[illegible]-[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]—[illegible]
[illegible]—[illegible]
[illegible], [illegible], [illegible] ([illegible])
[illegible]—8250027268, 9832475909, 8509109409

[illegible]-[illegible]

[illegible]
—[illegible]
[illegible] — [illegible]
[illegible], [illegible], [illegible] ([illegible])
[illegible] — 8250027268, 9832475909, 8509109409

[illegible]—
[illegible]
[illegible]

[illegible]—
[illegible], [illegible], [illegible], [illegible]

[illegible]
[illegible]—20 April 2026

[illegible]—
[illegible]
[illegible]

[illegible] —
[illegible], [illegible], [illegible], [illegible]

[illegible]
[illegible] — [illegible]

-:: [redacted] ::-
[redacted]—[redacted]
[redacted],
[redacted]

-:: [redacted] ::-
[redacted]—[redacted]
[redacted],
[redacted]

[redacted]
[redacted],
[redacted]. [redacted]
[redacted]: [redacted] 9832033394

[redacted]
[redacted],
[redacted]: [redacted]
[redacted]: 734403
[redacted].: 9832033394

[redacted]
[redacted],
[redacted]: [redacted]
[redacted]: 734403
[redacted].: 9832033394

[redacted]
[redacted],
[redacted]: [redacted] 9528856296

[illegible]
[illegible], [illegible], [illegible], [illegible]
[illegible]: 9528856296

[illegible]
[illegible], [illegible] [illegible]: [illegible] 993220000

[illegible]
[illegible], [illegible]
[illegible]: 993220000

[illegible]
[illegible] [illegible],
[illegible]: [illegible] 9883037597

[illegible]
[illegible] [illegible]: 9883037597

[illegible]
[illegible]

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

निवेदन
सबसे पहले, मैं हरिगुरु वैष्णव के चरणों में अपना प्रणाम करता हूँ। हमारी गीता प्रचार समिति की ओर से, आज के समाज में, हिंदू अपना धर्म बदल रहे हैं और उनमें नास्तिक भावनाएँ बहुत ज़्यादा हैं।
सबसे पहले मैं हरि-गुरु-वैष्णव के चरणों में प्रणाम करता हूँ। हमारी गीता प्रचार समिति की ओर से निवेदन है कि आज के समाज में अनेक हिंदू अपना धर्म त्याग रहे हैं और उनमें नास्तिक प्रवृत्तियाँ अत्यधिक बढ़ रही हैं। सर्वप्रथम मी हरी, गुरू आणि वैष्णवांच्या चरणी प्रणाम करतो. आमच्या गीता प्रचार समितीच्या वतीने विनंती आहे की आजच्या समाजात अनेक हिंदू आपला धर्म त्याग करत आहेत आणि त्यांच्यामध्ये नास्तिक प्रवृत्ती अत्यंत वाढत आहेत.
ऐसे में, हम, सिलीगुड़ी के अलग-अलग हिंदू समुदायों या हिंदू संगठनों ने मिलकर इस गीता का प्रचार करने का फ़ैसला किया है। ताकि लोग अपना धर्म छोड़कर दूसरे धर्म में न जाएँ। क्योंकि इस गीता शास्त्र में कहा गया है कि अपने धर्म में मरना बेहतर है: दूसरा धर्म ज़्यादा खतरनाक है।
ऐसे समय में हम, सिलीगुड़ी के विभिन्न हिंदू समुदायों
और संगठनों ने मिलकर गीता प्रचार का संकल्प लिया है। इसका उद्देश्य यह है कि लोग अपना धर्म छोड़कर अन्य धर्मों की ओर न जाएँ। क्योंकि गीता शास्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि अपने धर्म में मृत्यु भी कल्याणकारी है, जबकि परधर्म अत्यंत भयावह और विनाशकारी होता है।
अशा काळात आम्ही, सिलीगुडीतील विविध हिंदू समाज आणि संस्थांनी मिळून गीतेचा प्रचार करण्याचा संकल्प केला आहे. यामागचा उद्देश असा आहे की लोक आपला धर्म सोडून इतर धर्मांकडे वळू नयेत. कारण गीताशास्त्रात स्पष्ट सांगितले आहे की स्वतःच्या धर्मात मृत्यू आला तरी तो कल्याणकारी असतो, परंतु परधर्म अत्यंत भयावह आणि विनाशकारी ठरतो.
भले ही हमें अपने धर्म का पालन करते हुए सैकड़ों मुश्किलों और खतरों का सामना करना पड़े, हम कभी भी दूसरे धर्म या दूसरे धर्म को नहीं अपनाएँगे। अपने धर्म का पालन करते हुए मरना बेहतर है।

भले ही हमें अपने धर्म का पालन करते हुए सैकड़ों कठिनाइयों और खतरों का सामना करना पड़े, हम कभी भी दूसरे धर्म को नहीं अपनाएँगे। अपने धर्म का पालन करते हुए मृत्यु भी कल्याणकारी है।
जरी आम्हाला आपल्या धर्माचे पालन करताना शेकडो अडचणी आणि संकटांचा सामना करावा लागला, तरी आम्ही कधीही दुसरा धर्म स्वीकारणार नाही. आपल्या धर्माचे पालन करताना आलेला मृत्यूही कल्याणकारी असतो.
यह श्रीमद्भगवद्गीता श्रीमद्बलदेव विद्या भूषण प्रभु
की ‘गीता भूषण’ अनुवाद और श्रील भक्ति-विनोद ठाकुर द्वारा रचित और बीच के गुरुपद गुरुपाद पद्म श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज सरल हिन्दी अनुवाद जो उन्होंने हमारे लिए और जीवित प्राणियों के लिए बनाया है।
यह श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद् बलदेव विद्याभूषण प्रभु
के ‘गीता-भूषण’ अनुवाद तथा श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा रचित ग्रंथ पर आधारित है। इसके साथ ही गुरुपादपद्म श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज का सरल हिन्दी अनुवाद भी सम्मिलित है, जिसे उन्होंने हमारे और समस्त जीवों के कल्याणार्थ प्रस्तुत किया है।
ही श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद् बलदेव विद्याभूषण प्रभू यांच्या ‘गीता-भूषण’ अनुवादावर तसेच श्रील भक्तिविनोद ठाकूर यांनी रचलेल्या ग्रंथावर आधारित आहे. यासोबत गुरुपादपद्म श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज यांचा सोपा हिंदी अनुवादही समाविष्ट आहे, जो त्यांनी आमच्या आणि सर्व जीवांच्या कल्याणासाठी प्रस्तुत केला आहे.

गीता प्रचार समिति
गीता प्रचार समिती

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

प्रथमोऽध्यायः
सैन्यदर्शनः
धृतराष्ट्र उवाच— धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥1॥
1। धृतराष्ट्र ने पूछा, हे संजय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?
१. धृतराष्ट्र म्हणाला, “हे संजय, धर्मभूमी कुरुक्षेत्रावर युद्ध करण्याची इच्छा ठेवून एकत्र जमलेल्या माझ्या आणि पांडूच्या पुत्रांनी काय केले?”

सञ्जय उवाच—
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा। आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्॥2॥
2। संजय ने कहा,—राजा दुर्योधन ने व्यूह बनाकर खड़ी हुई पाण्डवों की सेना और सैन्य-सामन्तों को देखकर आचार्य द्रोण के पास जाकर यह कहा।
2। संजय म्हणाला,—राजा दुर्योधनाने व्यूहरचनेने उभी राहिलेली पांडवांची सेना आणि सेनानायकांना पाहून आचार्य द्रोणांकडे जाऊन असे म्हटले.

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥3॥

3। हे आचार्य, देखिये—पाण्डु-पुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को, जिसे आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने व्यूह के आकार में खड़ा किया हुआ है।
3। हे आचार्य, पाहा—पांडुपुत्रांची ही भलीमोठी (प्रचंड) सेना, जी आपल्या बुद्धिमान शिष्याने, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नाने, व्यूहरचनेत उभी केली आहे.
3। हे आचार्य, पाहा पाण्डु-पुत्रांची ही अतिशय विशाल सेना, जिला आपले बुद्धिमान शिष्य—द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न याने व्यूहाच्या आकारात उभी केली आहे.

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥4॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः॥5॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥6॥
4–6। इस पाण्डव सेना में महाधनुर्द्धारी भीम और अर्जुन
के समान बहुत से महान् शूरवीर योद्धा हैं; जैसे सात्यकि, विराटराज और द्रुपद आदि महारथी; धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान् काशिराज आदि वीर; पुरजित् कुन्तिभोज और शैव्य आदि राजा; पराक्रमी युधामन्यु, वीर उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्र—ये सब महारथी हैं।
4-6। या पांडवसेनेत भीम आणि अर्जुनासारखे महाधनुर्धर असे पुष्कळ महान शूरवीर योद्धे आहेत; जसे सात्यकी, विराटराज आणि द्रुपद इत्यादी महारथी; धृष्टकेतू, चेकितान, बलवान काशीराज इत्यादी वीर; , कुन्तिभोज आणि शैब्य इत्यादी राजे; पराक्रमी युधामन्यू, वीर उत्तमौजा, सुभद्रेचा पुत्र अभिमन्यू तसेच द्रौपदीचे पाचही पुत्र—हे सर्व महारथी आहेत.

अस्माकन्तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते॥7॥
7। हे द्विजश्रेष्ठ, हमारी सेना में भी जो मुख्य सेनानायक हैं, उनको भी समझ लीजिये; आपकी जानकारी के लिए उनके नाम भी बताता हूँ।
7। हे द्विजश्रेष्ठ, आपल्या सैन्यातील जे मुख्य

[illegible] [illegible], [illegible] [illegible]. [illegible] [illegible] [illegible].

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः॥8॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥9॥
8–9। आप स्वयं, पितामह भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सौमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा और जयद्रथ आदि रणविजयीगण एवं और भी बहुत वीर पुरुष हैं—जो युद्ध कला में निपुण हैं, कई प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सम्पन्न हैं और मेरे लिए प्राणों का बलिदान करने को तत्पर हैं। 8–9। आपण स्वतः, पितामह भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सौमदत्ताचा पुत्र भूरिश्रवा, जयद्रथ इत्यादी रणविजयीगण आणि आणखी अनेक वीर पुरुष आहेत—जे युद्धकलेत निपुण आहेत, अनेक प्रकारच्या अस्त्र-शस्त्रांनी संपन्न आहेत आणि माझ्यासाठी प्राणांचे बलिदान देण्यासाठी तयार आहेत.
८-९। युद्धात सदैव विजयी होणारे स्वतः आपण (द्रोणाचार्य), पितामह भीष्म, कर्ण आणि कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण आणि सौमदत्ताचा पुत्र भूरिश्रवा; तसेच जयद्रथ आणि असे अनेक वीर पुरुष आहेत जे युद्धकलेत अत्यंत निपुण आहेत. हे सर्वजण नाना प्रकारच्या शस्त्रास्त्रांनी सुसज्ज असून माझ्यासाठी स्वतःच्या प्राणांचे बलिदान देण्यासही तयार आहेत.

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥10॥
10। पितामह भीष्म के संरक्षण में हमारी यह सेना अपरिमित है और इसके मुकाबले में भीम के द्वारा परिरक्षित पाण्डवों का सैन्य बल परिमित है।
10। पितामह भीष्मांच्या संरक्षणात आमची ही सेना अपरिमित (असीम, अमर्याद) आहे आणि याच्या मुकाबल्यात भीमाद्वारे परिरक्षित पांडवांचे सैन्यबळ परिमित (मर्यादित) आहे.

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः। भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥11॥
11। आप सभी लोग सब मोर्चों पर अपने-अपने स्थानों पर डटे रहकर पितामह भीष्म की ही सब प्रकार से रक्षा करें।
११. तुम्ही सर्वांनी सर्व आघाड्यांवर आपापल्या जागी ठामपणे उभे राहून पितामह भीष्मांचेच सर्व प्रकारे रक्षण करावे.
11। आपण सर्व लोक सर्व मोर्चांवर आपापल्या स्थानांवर डटून राहून पितामह भीष्मांचे सर्व प्रकारे रक्षण करावे.

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्॥12॥
12। इसके बाद कुरुवंश के सबसे वृद्ध तथा प्रतापी पितामह भीष्म ने दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए सिंह के समान गर्जन करते हुए ऊँचे स्वर से शंख बजाया।
12| यानंतर कुरुवंशातील सर्वांत वृद्ध आणि प्रतापी पितामह भीष्मांनी दुर्योधनाला प्रसन्न करण्यासाठी सिंहासारखी गर्जना करत उच्च स्वरात शंख वाजवला.

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥13॥
13। तत्पश्चात् शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग और रणसिंघ आदि अनेक रणवाद्यों के अचानक एक साथ बज उठने से अति भयंकर ध्वनि गूँज उठी।
१३। तत्पश्चात शंख, नगारे, ढोल, मृदंग, रणशिंगे इत्यादी अनेक रणवाद्ये अचानक एकाच वेळी वाजू लागल्याने अत्यंत भयंकर नाद दुमदुमला.

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः॥14॥
14। इधर श्वेत वर्ण के घोड़ों वाले उत्तम (‘कपिध्वज’)
रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपने अलौकिक शंख को ऊँचे स्वर से बजाया।
14। दुसरीकडे, पांढऱ्या रंगाचे घोडे जोडलेल्या उत्तम (‘कपिध्वज’) रथात बसलेल्या श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांनी सुद्धा आपले दिव्य शंख मोठ्या आवाजात फुंकले.

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः॥15॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥16॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥17॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥18॥

15-18। हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना ‘पाञ्चजन्य’ नामक शंख, अर्जुन ने अपना ‘देवदत्त’ नामक शंख तथा भयंकर कार्यों को करने वाले भीमसेन ने अपना ‘पौण्ड्र’ नामक भारी शंख बजाया। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने ‘अनन्त विजय’ नामक शंख, नकुल ने ‘सुघोष’ नामक शंख और सहदेव ने ‘मणिपुष्पक’ नामक शंख बजाया; इस प्रकार हे राजन्! महान् धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराटराज, अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद और द्रौपदी के पाँचों पुत्र एवं सुभद्रा के पुत्र महाबाहु अभिमन्यु आदि सभी ने सब ओर से अलग-अलग अपने शंख बजाए।
१५-१८। हृषीकेश भगवान श्रीकृष्णांनी आपला ‘पाञ्चजन्य’ नावाचा शंख, अर्जुनाने ‘देवदत्त’ नावाचा शंख आणि भयंकर कर्मे करणाऱ्या भीमसेनाने ‘पौण्ड्र’ नावाचा महाशंख फुंकला. कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिराने ‘अनंतविजय’ नावाचा शंख वाजविला; नकुलाने ‘सुघोष’ नावाचा शंख वाजविला आणि सहदेवाने ‘मणिपुष्पक’ नावाचा शंख वाजविला. या प्रकारे, हे राजन्! महान धनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, विराटराज, अजिंक्य सात्यकी, राजा द्रुपद, द्रौपदीचे पाच पुत्र आणि सुभद्रेचा महाबाहू पुत्र अभिमन्यू यांनी सर्व बाजूंनी आपापले शंख वेगवेगळे वाजविले.

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन्॥19॥
19। उस भयंकर ध्वनी से सम्पूर्ण आकाश और पृथ्वी गुञ्जायमान हो उठी जिससे धृतराष्ट्र-पक्ष के लोगों के हृदय विदीर्ण हो गये।
19। त्या भयंकर ध्वनीने संपूर्ण आकाश आणि पृथ्वी दुमदुमून गेली, ज्यामुळे धृतराष्ट्र-पक्षाच्या लोकांचे हृदय विदीर्ण झाले.

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः। प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः। हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते॥20॥
20। हे राजन्! इसके बाद ‘कपिध्वज’ (वानर के चिह्ण से अंकित ध्वज वाले) रथ पर बैठे अर्जुन ने धृतराष्ट्र-पक्षीय

सेना को युद्ध के लिए तैयार देखकर बाण चलाने के लिए अपना धनुष उठाया और श्रीकृष्ण से कहा—
20। हे राजा! यानंतर, ज्याच्या रथावर ‘कपिध्वज’ (वानराचे चिह्न असलेला ध्वज) आहे, अशा त्या अर्जुनाने धृतराष्ट्र-पक्षीय सैन्याला युद्धासाठी सज्ज झालेले पाहून आपले धनुष्य उचलले आणि भगवान श्रीकृष्णांना असे म्हणाला—

अर्जुन उवाच—
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥21॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥22॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥
23॥
21-23। अर्जुन ने कहा,—हे अच्युत! आप मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दीजिये, ताकि युद्ध की इच्छा से यहाँ उपस्थित उन सभी लोगों को मैं अच्छी तरह से देख लूँ जिनके साथ इस रणक्षेत्र में मुझे युद्ध करना है। और देखूँ कि, इस युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन का हित चाहने वाले कौन-कौन योद्धा यहाँ इकट्ठे हुए हैं।
21-23। अर्जुन म्हणाला—हे अच्युत! माझा रथ दोन्ही सैन्यांच्या मध्ये उभा करा, जेणेकरून युद्धाच्या इच्छेने येथे जमलेल्या या सर्व लोकांना मी नीट पाहू शकेन, ज्यांच्याशी मला या रणभूमीवर युद्ध करायचे आहे. तसेच, दुर्बुद्धी दुर्योधनाचे हित साधण्यासाठी येथे कोणकोणते योद्धे एकत्र जमले आहेत, हे देखील मी पाहू शकेन.

सञ्जय उवाच—
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥24॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषाञ्च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति॥25॥
24-25। संजय ने कहा,—हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! गुडाकेश (जितनिद्र) अर्जुन के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण ने उस उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दिया। भीष्म, द्रोण और

सब राजाओं के सामने वे बोले कि,—हे पार्थ, युद्ध के लिए यहाँ इकट्ठे हुए इन सब कौरवों को देखो।
24-25। संजय म्हणाला—हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! गुडाकेश (जितनिद्र अर्थात निद्रेवर विजय मिळवणाऱ्या) अर्जुनाने असे म्हटल्यावर, भगवान श्रीकृष्णांनी तो उत्तम रथ दोन्ही सैन्यांच्या मध्ये उभा केला. भीष्म, द्रोण आणि सर्व राजांसमोर उभे राहून श्रीकृष्ण म्हणाले—हे पार्थ, युद्धासाठी येथे एकत्र जमलेल्या या सर्व कौरवांना बघ.

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि॥26॥
26। इसके बाद अर्जुन ने वहाँ एकत्रित दोनों सेनाओं में उपस्थित अपने पिता के भाईयों, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, सखाओं, श्वसुरों और प्रियजनों को देखा।
26। यानंतर अर्जुनाने तेथे एकत्रित दोन्ही सैन्यांमध्ये उपस्थित आपल्या पित्याचे भाऊ (चुलते), पितामह (आजोबा), आचार्य, मामा, भाऊ, पुत्र, पौत्र (नातू), सखा (मित्र), श्वसुर (सासरे) आणि प्रियजनांना पाहिले.

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्। कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्॥27॥
27। युद्ध भूमि में उपस्थित अपने उन सब बन्धु-बान्धवों
को खड़ा देखकर कुन्तीपुत्र अर्जुन का हृदय करुणा से भर गया और दुखी होकर शोक व्यक्त करते हुए उसने कहा।—
27। युद्धभूमीमध्ये उपस्थित आपल्या त्या सर्व बंधू- बांधवांना उभे ठाकलेले पाहून कुंतीपुत्र अर्जुनाचे हृदय करुणेने भरून गेले आणि दुःखी होऊन शोक व्यक्त करत त्याने म्हटले—

अर्जुन उवाच—
दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण युयुत्सून् समवस्थितान्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति॥28॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते॥29॥
28-29। अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! युद्ध के लिए खड़े हुए
इन सब स्वजनों को यहाँ उपस्थित देखकर मेरा शरीर सुन्न हो रहा है, मेरा मुख सूख रहा है, मेरे शरीर में कंपकपी हो रही है, रोंगटे खड़े हो गये हैं, गाण्डीव धनुष मेरे हाथ से छूट रहा है और मेरे शरीर में बहुत जलन भी हो रही है।
28-29। अर्जुन म्हणाला—हे कृष्ण! युद्धासाठी उभे राहिलेल्या या सर्व स्वजनांना येथे उपस्थित पाहून माझे शरीर सुन्न होत आहे, माझे मुख सुकत आहे, माझ्या अंगाला कापरे भरले आहे आणि अंगावर रोमांच उभे राहिले आहेत. ‘गांडीव’ धनुष्य माझ्या हातातून गळून पडत आहे आणि माझ्या सर्वांगाची आग होत आहे.

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव॥30॥
30। हे केशव! मैं अब और खड़ा नहीं रह सकता—मेरे मन का भ्रम भी बढ़ रहा है। मुझे इस युद्ध में केवल विपरीत ही लक्षण दिख रहे हैं।
३०। हे केशव! आता मी अधिक वेळ उभा राहू शकत नाही—माझे
मन भ्रमित होत आहे. मला या युद्धात केवळ विपरीत (अशुभ) चिह्नेच दिसत आहेत.
३०। हे केशव! मी आता अधिक काळ उभा राहू शकत नाही— माझ्या मनाचा भ्रमही वाढत आहे. मला या युद्धात केवळ विपरीतच लक्षणे दिसत आहेत.

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च॥31॥
31। स्वजनों को युद्ध में मारकर मुझे कुछ भी भलाई नहीं दीखती। इसलिए हे कृष्ण! मैं विजय नहीं चाहता, राज्य और सुख की भी मुझे इच्छा नहीं है।
31। युद्धात आपल्याच स्वजनांना मारून मला त्यात काहीच कल्याण (भलाई) दिसत नाही. म्हणून हे कृष्ण! मला विजयाची ओढ

नाही, तसेच राज्याची आणि सुखाचीही इच्छा नाही.

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च॥32॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः॥33॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन॥34॥

32-34। हे गोविन्द! हमें राज्य से क्या प्रयोजन है, भोग-सुख और जीवन से भी क्या लाभ है? क्योंकि, जिन लोगों के लिए राज्य-भोग और सुख चाहिए, वे आचार्य, पितृजन, पुत्र, पौत्र, पितामह, मामा, श्वसुर, साले तथा सभी सम्बन्धी ही आज यहाँ प्राणों और सम्पत्ति की आशा छोड़कर युद्ध के मैदान में खड़े हैं। हे मधुसूदन! चाहे ये मुझे मार भी डालें, तब भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता।
32-34। हे गोविंद! आम्हाला अशा राज्याचे काय प्रयोजन? भोग-सुख आणि जीवनाचा तरी काय लाभ? कारण, ज्यांच्यासाठी आम्हाला राज्य, भोग आणि सुखाची इच्छा आहे, तेच सर्व आचार्य, पितृजन (पितृतुल्य चुलते अर्थात काका), पुत्र, पौत्र (नातवंड), पितामह (आजोबा अर्थात वडीलांचे वडील), मामा, श्वसुर (सासरे), मेहुणे आणि सर्व संबंधी (नातेवाईक अर्थात सगेसोयरे) आज प्राणांची व संपत्तीची आशा सोडून युद्धाच्या मैदानात उभे आहेत. म्हणून हे मधुसूदन! जरी त्यांनी मला मारले, तरी मला त्यांना मारण्याची इच्छा नाही.

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते।
निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन॥
35॥
35। हे जनार्द्दन! पृथ्वी के लिए तो क्या तीनों लोकों
का राज्य पाने के लिए भी धृतराष्ट्र-पक्ष के लोगों को मारकर हमारा क्या भला होगा?
35। हे जनार्दन! केवळ पृथ्वीसाठीच काय, पण त्रैलोक्याचे राज्य मिळणार असले तरीही, या धृतराष्ट्र-पक्षातील लोकांना मारून आमचे काय कल्याण होणार?

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् सबान्धवान्। स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥36॥
36। चाहे ये आततायी हैं, फिर भी इन्हें मारकर हमें पाप
ही लगेगा। इसीलिए दुर्योधन और उसके मित्रों का मैं वध नहीं कर सकता हूँ। हे माधव! स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं।
३६. जरी हे सर्व आततायी (अन्यायी) असले तरी त्यांना मारल्याने आपल्याला पापच लागेल. म्हणूनच, दुर्योधन आणि

त्याच्या मित्रांचा वध मी करू शकत नाही. हे माधव! आपल्या स्वजनांचा (नातेवाईकांचा) वध करून आपण सुखी कसे होऊ शकतो?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥37॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥38॥
37-38। भले ही ये लोग लोभ से बुद्धि-भ्रष्ट हो जाने के कारण कुल-नाश से होने वाले अनर्थ और मित्रों के साथ द्रोह जनित पाप को नहीं देख पा रहे हैं, किन्तु हे जनार्द्दन! कुल के नाश से होने वाले अनर्थ को समझते हुए भी हम इस पाप कार्य से दूर क्यों न रहें?
३७–३८। जरी लोभामुळे या लोकांची बुद्धी भ्रष्ट झाली असल्याने, कुळाचा नाश केल्याने होणारा अनर्थ आणि मित्रांशी द्रोह केल्याने घडणारे पाप यांना दिसत नसले, तरी हे जनार्दन! कुळनाशामुळे होणारा अनर्थ स्पष्टपणे समजत असतानाही आपण या पापकर्मापासून दूर राहू नये काय?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥39॥
39। [देखो,] कुल का नाश होने से सनातन कुल-धर्म बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं और धर्म का नाश होने पर बचे हुए कुल में अधर्म पूरी तरह से फैल जाता है।
३९. [पाहा,] कुळाचा नाश झाल्याने सनातन कुलधर्म (कुलाचार) पूर्णतः नष्ट होतात; आणि धर्माचा नाश झाल्यावर उरलेल्या कुळात अधर्म संपूर्णपणे पसरतो.

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः। स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥40॥
40। हे कृष्ण! कुल में अधर्म छा जाने से कुल की स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं। हे वार्ष्णेय (वृष्णि कुल में उत्पन्न), स्त्रियों में दोष पैदा हो जाने पर ‘वर्णसंकर’ संतानों की उत्पत्ति होती है अर्थात् वर्णों में मिलावट हो जाती है और कुलों की पवित्रता नष्ट हो जाती है।

[illegible]

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥41॥
41। वर्णसंकर उत्पन्न होने पर कुल और कुल-नाशक दोनों
को ही नरक में जाना पड़ता है। पिण्डदान और तर्पण आदि की क्रिया नष्ट हो जाने के कारण इनके पितर भी पतित हो जाते हैं।
४१। वर्णसंकर उत्पन्न झाल्यावर कुळ आणि कुळनाश करणारे दोघेही नरकात जातात. पिंडदान आणि तर्पण यांसारख्या क्रिया नष्ट झाल्यामुळे त्यांचे पितरही पतित होतात.

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥42॥
42। इस प्रकार कुलनाशकों के इन वर्णसंकर पैदा करने वाले दोषों से सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म सब नष्ट हो जाते हैं।
४२। अशा प्रकारे, कुळाचा नाश करणाऱ्यांच्या या वर्णसंकर निर्माण करणाऱ्या दोषांमुळे, सनातन कुलधर्म आणि जातिधर्म दोन्ही पूर्णपणे नष्ट होतात.

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥43॥
43। हे जनार्द्दन! सुना है कि, जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं उन्हें अनन्त काल तक नरक में वास करना पड़ता है।
४३। हे जनार्दन! आम्ही असे ऐकले आहे की, ज्यांचे कुलधर्म नष्ट झाले आहेत, अशा लोकांना अनंत काळापर्यंत नरकामध्ये वास करावा लागतो (नरकात राहावे लागते).

अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम्। यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥44॥
44। हाय! कितने खेद की बात है कि हम राज्य-सुख के लोभ में स्वजनों को मारने का भयंकर पाप करने पर उतारू हैं।
४४। अरेरे! किती खेदाची बाब आहे की, आम्ही राज्याच्या आणि सुखाच्या लोभापोटी आपल्याच स्वजनांना (नातेवाईकांना) मारण्याचे भयंकर पाप करण्यास प्रवृत्त (सिद्ध) झालो आहोत.

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।

धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥45॥
45। यदि मैं सामना करना छोड़ दूँ और मुझे निहत्था देखकर भी शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार डालें, तो वह अधिक कल्याणकारक होगा।
४५| जर मी सामना करणे सोडून दिले आणि मला निःशस्त्र पाहूनही शस्त्रधारी धृतराष्ट्रपुत्र रणभूमीत मला मारून टाकतील, तर तेच अधिक कल्याणकारक ठरेल.
४५। जर मी प्रतिकार करण्याचे सोडून दिले आणि मला निःशस्त्र पाहून सुद्धा शस्त्रधारी धृतराष्ट्र-पुत्रांनी रणांगणात माझा वध केला, तरी ते माझ्यासाठी अधिक कल्याणकारक ठरेल.

सञ्जय उवाच—
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥46॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ‘सैन्यदर्शनं’ नाम प्रथमोऽध्यायः।
46। संजय ने कहा,—इतना कहकर रणभूमि में धनुष-बाण छोड़कर शोकाकुल अर्जुन रथ में बैठ गये।
४६. संजय म्हणाला,—असे म्हणून रणभूमीत धनुष्य-बाण खाली ठेवून शोकाकुल अर्जुन रथात बसला.
४६। संजय म्हणाला,—असे बोलून रणभूमीमध्ये धनुष्य-बाण त्यागून शोकाकुल झालेला अर्जुन रथात बसला.
इति प्रथम अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
इति प्रथम (पहिल्या) अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.

द्वितीयोऽध्यायः
सांख्ययोग
सञ्जय उवाच—
तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्। विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥1॥
1। संजय ने कहा,—इस प्रकार दया से पसीजे और आँसु-भरे व्याकुल नेत्रों वाले शोकमग्न अर्जुन को भगवान् श्रीमधुसूदन ने कहा।
१। संजय म्हणाला—अशा प्रकारे दयेने व्याप्त झालेल्या आणि अश्रूंनी भरलेल्या व्याकुळ नेत्र असलेल्या, शोकमग्न अर्जुनाला भगवान श्रीमधुसूदन म्हणाले.
१। संजय म्हणाला—अशा प्रकारे दयेने व्याकुळ झालेल्या आणि अश्रूंनी भरलेल्या डोळ्यांनी शोकमग्न असलेल्या अर्जुनाला भगवान श्रीमधुसूदन म्हणाले.

श्रीभगवानुवाच—
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्। अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन॥2॥
2। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा,—हे अर्जुन, संकट की इस घड़ी में तुम्हें यह मोह कैसे उत्पन्न हो गया? यह श्रेष्ठ पुरुषों जैसा आचरण नहीं है। यह स्वर्ग से पथभ्रष्ट करने वाला है और बदनामी फैलाने वाला है।
२। भगवान श्रीकृष्ण म्हणाले,—हे अर्जुन, संकटाच्या या क्षणी तुला हा मोह कसा उत्पन्न झाला? हे श्रेष्ठ पुरुषांना शोभणारे आचरण नाही. हे आचरण स्वर्गमार्गापासून विचलित करणारे आणि अपकीर्ती पसरवणारे आहे.
२. भगवान श्रीकृष्ण म्हणाले,—हे अर्जुन, संकटाच्या या घडीत तुझ्या हृदयात हा मोह कसा उत्पन्न झाला? हे श्रेष्ठ पुरुषांसारखे आचरण नव्हे. हे आचरण स्वर्गापासून पथभ्रष्ट करणारे आहे आणि बदनामी पसरवणारे आहे.

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥3॥
3। हे पार्थ, इस प्रकार कायर मत बनो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम ‘परन्तप’ (शत्रुओं को तपाने वाले) हो, हृदय की तुच्छ दुर्बलता को छोड़कर युद्ध के लिए खड़े हो जाओ।

३। हे पार्थ, अशा प्रकारे भ्याड (भित्रा) होऊ नकोस; हे तुला शोभत नाही. तू ‘परंतप’ (शत्रूंना संत्रस्त करून त्यांचे दमन करणारा) आहेस. म्हणून हृदयातील तुच्छ दुर्बलता सोडून युद्धासाठी उभा राहा.

अर्जुन उवाच—
कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥4॥
4। अर्जुन ने कहा,—हे मधुसूदन! युद्ध में पितामह भीष्म
और आचार्य द्रोण के मुकाबले मैं बाणों से कैसे लडूंगा, क्योंकि ये दोनों मेरे पूज्य हैं।
4| अर्जुन म्हणाला—हे मधुसूदन! मी रणांगणात पितामह भीष्म आणि आचार्य द्रोण यांच्या विरोधात बाणांनी कसं लढू? कारण हे दोघेही माझ्यासाठी अत्यंत पूजनीय आहेत.

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके। हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥5॥
5। इन आदरणीय गुरुजनों की हत्या करने से इस संसार में भीख माँगकर जीवन यापन करना भी अधिक अच्छा रहेगा। भले ही वे धन के लोभी हो गये हैं, तो भी गुरुजनों को मारकर [नरक की अपेक्षा नहीं,] इस संसार में ही रक्त से सने भोग-वस्तुओं को भोगना पडेगा।
५। या आदरणीय गुरूजनांचा वध करण्यापेक्षा या जगात भिक्षा मागून जीवन जगणे अधिक चांगले आहे. ते धनलोभी झाले असले तरी गुरूजनांचा वध करून [नरकात नव्हे, तर] या जगातच रक्ताने माखलेल्या भोगवस्तूंचा उपभोग करावा लागेल.

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः। यानेव हत्वा न जिजीविषाम— स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः॥6॥
6। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि युद्ध में जय और पराजय में से कौनसी अधिक गौरव की बात है? क्योंकि जिनकी हत्या करके हम जीना नहीं चाहते हैं, वे धृतराष्ट्र के पुत्र ही

[आज] हमारे सामने युद्ध के लिए खड़े हैं।
6। मी समजू शकत नाही की युद्धात जय आणि पराजय यांपैकी कोणते अधिक गौरवास्पद आहे? कारण ज्यांची हत्या करून आम्ही जगू इच्छित नाही, तेच धृतराष्ट्राचे पुत्र [आज] आमच्यासमोर युद्धासाठी उभे आहेत.
6। मला समजत नाही की युद्धात विजय की पराजय यापैकी कोणती अधिक गौरवाची बाब आहे? कारण ज्यांना मारून आम्ही जगू इच्छित नाही, ते धृतराष्ट्राचे पुत्रच [आज] आमच्या समोर युद्धासाठी उभे आहेत.
6। मला समजत नाही की युद्धात विजय अधिक गौरवशाली आहे
की पराजय. कारण ज्यांचा वध करून आम्ही जगू इच्छित नाही, तेच धृतराष्ट्राचे पुत्र आज आमच्या समोर युद्धासाठी उभे ठाकले आहेत.

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः। यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥7॥
7। वास्तव में ‘कार्पण्य’-दोष (अर्थात् स्वाभाविक सामर्थ्य रहते हुए भी असमर्थता की अनुभूति रूपी दोष) के कारण, मेरा चित्त अपने कर्त्तव्य के विषय में भ्रमित हो चुका है। इसलिए मैं आपसे पूछता हूँ—जो निश्चित रूप से कल्याण का उपाय हो, वह मुझे बताईए। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में आया हूँ, मुझे शिक्षा प्रदान कीजिए।
७। खरे तर ‘कार्पण्य’-दोषामुळे (अर्थात स्वाभाविक सामर्थ्य असूनही असमर्थतेची जाणीव होणे या दोषामुळे), माझे चित्त स्वतःच्या कर्तव्याबद्दल भ्रमित झाले आहे. म्हणून मी आपल्याला विचारतो—जो निश्चितपणे कल्याणाचा उपाय असेल, तो मला सांगावा. मी आपला शिष्य आहे, आपल्याला शरण आलो आहे, मला उपदेश करावा.
७। खरे तर ‘कार्पण्य’-दोषामुळे (म्हणजे ‘स्वाभाविक सामर्थ्य असूनही असमर्थतेची अनुभूती होणे’ या दोषामुळे) माझे मन माझ्या कर्तव्याबद्दल गोंधळले आहे. म्हणून मी आपल्याला विचारतो—जे निश्चितपणे कल्याणकारक असेल ते मला सांगा. मी आपला शिष्य आहे, आपल्याला शरण आलो आहे, मला ज्ञान

प्रदान करावे (अर्थात मार्गदर्शन करावे).

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
अवाप्य यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्। भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥8॥
8। सारी पृथ्वी का एकछत्र और समृद्ध राज्य पाकर, यहाँ
तक कि (स्वर्ग में) देवताओं का स्वामी बनकर भी मुझे वह उपाय समझ में नहीं आता है, जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को दूर कर सके।
8। संपूर्ण पृथ्वीचे एकछत्र (निष्कंटक) आणि समृद्ध राज्य मिळाले तरी, अगदी (स्वर्गातील) देवतांचा अधिपती झालो तरीही, माझ्या इंद्रियांना सुकवून टाकणारा हा शोक दूर करण्याचा उपाय मला दिसत नाही आहे.

सञ्जय उवाच—
एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥9॥
9। संजय ने कहा,—हे राजन्, इस प्रकार शत्रुओं को ताप देने वाला अर्जुन अन्त में श्रीकृष्ण को ऐसा कहकर,—‘हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा’, चुप हो गया।
९। संजय म्हणाला—हे राजन्, याप्रकारे शत्रूंना ताप देणारा अर्जुन शेवटी श्रीकृष्णांना असे सांगून,—‘हे गोविंद! मी युद्ध करणार नाही’, गप्प बसला.
9। संजय म्हणाला,—हे राजा, अशा प्रकारे शत्रूंना त्रास देणारा अर्जुन शेवटी श्रीकृष्णांना म्हणाला,—‘हे गोविन्द! मी युद्ध करणार नाही’, असे म्हणून तो गप्प बसला.

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत। सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥10॥
10। हे भरतवंशी धृतराष्ट्र, इसके बाद भगवान् हृषीकेश
ने दोनों सेनाओं के बीच में शोकमग्न अर्जुन को हँसते- मुसकराते हुए यह वचन कहा।—
10। हे भरतवंशी धृतराष्ट्र, यानंतर भगवान् हृषीकेशांनी दोन्ही सैन्यांच्या मध्ये शोकमग्न अर्जुनाला हसतमुखाने असे म्हटले—
१०। हे भरतवंशी धृतराष्ट्र, यानंतर भगवान हृषीकेशांनी

दोन्ही सैन्यांच्या मध्ये शोकमग्न झालेल्या अर्जुनाला हसत-हसत हे वचन सांगितले.—

श्रीभगवानुवाच—
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥11॥
11। श्रीभगवान् ने कहा,—हे अर्जुन, तुम बातें तो पण्डितों जैसी करते हो, लेकिन शोक न करने योग्य विषय के लिए शोक कर रहे हो। पण्डित लोग मृत अथवा जीवित किसी के लिए शोक नहीं करते। (अर्थात् अनित्य जड़ वस्तुओं के लिए शोक करने वाले लोग विद्वान कहलाने योग्य नहीं है।)
११। श्रीभगवान म्हणाले—हे अर्जुन, तू तर पंडितांसारखे बोलतोस, पण शोक न करण्यास योग्य असलेल्या विषयाबद्दल शोक करत आहेस. पंडित लोक मृत अथवा जिवंत कोणाबद्दलही शोक करत नाहीत. (अर्थात अनित्य जड वस्तूंसाठी शोक करणारे लोक विद्वान म्हणवून घेण्यास योग्य नाहीत.)
11। श्रीभगवान् म्हणाले,—हे अर्जुन, तू गोष्टी तर पण्डितांसारख्या करत आहेस, परंतु शोक न करण्यायोग्य विषयासाठी शोक करीत आहेस. पंडित लोक कोण्याही मृत अथवा जीवित व्यक्तिसाठी शोक करीत नाहीत (अर्थात अनित्य निर्जीव वस्तूंसाठी शोक करणारे लोक विद्वान म्हणण्याजोगे नसतात.)

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥12॥
12। [क्योंकि,] ऐसा नहीं है कि, मैं पहले कभी न था, या तुम नहीं थे या ये सब राजा नहीं थे; और न ऐसा भी है कि भविष्य में हम सब नहीं रहेंगे (अर्थात् जीवात्मा परमात्मा की तरह ही नित्य-वस्तु है, इसलिए शोक का कोई कारण नहीं है।)
12। [कारण,] असे नाही की, मी पूर्वी कधी नव्हतो, किंवा
तू नव्हतास किंवा हे सर्व राजे नव्हते; आणि असेही नाही की भविष्यात आपण सर्वजण असणार नाही (अर्थात जीवात्मा परमात्म्याप्रमाणेच नित्य-वस्तू आहे, म्हणून शोक करण्याचे काही कारण नाही.)

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥13॥

13। देहधारी जीवों की इस शरीर में जैसे क्रमशः बचपन,
जवानी और बुढ़ापे की अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही मृत्यु के बाद जीवात्मा को दूसरा शरीर मिलता है। इसीलिए विद्वान लोग इस विषय में मोहित नहीं होते।
१३। देहधारी जीवांना या शरीरात जसे क्रमशः बालपण, तारुण्य आणि म्हातारपण या अवस्था येतात, तसेच मृत्यूनंतर जीवात्म्याला दुसरे शरीर मिळते. म्हणूनच विद्वान (ज्ञानी) लोक या विषयात मोहित होत नाहीत.

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥14॥
14। [और भी देखो,] हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, शारीरिक इन्द्रियों की वृत्ति ही ऐसी है कि विषयों के संयोग से उन्हें सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख आदि का अनुभव अवश्य ही होगा और ये सब ‘आगमापायी’ हैं अर्थात् आते-जाते रहते हैं— अनित्य हैं। इसलिए हे भारत! उन्हें तुम सहन करो।
१४. [आणि हेही लक्षात घे,] हे कुंतीपुत्र अर्जुन, शारीरिक इंद्रियांचा स्वभावच असा आहे की विषयांशी संयोग झाला की त्यांना शीत-उष्ण आणि सुख-दुःख इत्यादींचा अनुभव हा नक्की होणारच. आणि हे सर्व अनुभव ‘आगमापायी’ आहेत म्हणजेच येतात आणि जातात—अशाश्वत आहेत. म्हणून हे भारत! तू ते सहन कर.
14। [आणखी बघा,] हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, शारीरिक इंद्रियांची वृत्ती अशीच असते की विषयांच्या संयोगाने त्यांना थंडी-उष्णता आणि सुख-दुःख यांचा अनुभव नक्कीच होतो. आणि हे सर्व अनुभव ‘आगमापायी’ आहेत—म्हणजे येतात आणि जातात, अनित्य आहेत. म्हणून, हे भारत! तू ते सहन कर.

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥15॥

15। [उन्हें सहन करने का फल सुनो,] हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन, जिस ज्ञानी पुरुष को ये (सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि) समस्त अनुभूतियाँ विचलित नहीं कर पाती, सुख-दुःख को समान समझने वाला वह धीर व्यक्ति ही ‘अमृत’ अर्थात् मुक्ति पाने में समर्थ है।
१५. [त्यांना सहन करण्याचे फळ ऐक,] हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन, ज्या ज्ञानी पुरुषाला ह्या सर्व अनुभूती (शीत-उष्ण, सुख-दुःख इत्यादी) विचलित करू शकत नाहीत, सुख-दुःखाला समान मानणारा तो धीर पुरुषच ‘अमृत’ म्हणजेच मुक्ती प्राप्त करण्यास समर्थ आहे.
15। [त्यांना सहन करण्याचे फळ ऐक], हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन, ज्या ज्ञानी पुरुषाला थंडी-उष्णता, सुख-दुःख यांसारख्या सर्व अनुभूती विचलित करू शकत नाहीत, आणि जो सुख-दुःखाला समान मानतो—तो धीर पुरुषच ‘अमृत’ म्हणजेच मुक्ती प्राप्त करण्यास समर्थ असतो.

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥16॥
16। [यहाँ तत्त्वविज्ञान यह है कि] ‘सत्’ और ‘असत्’ दो तत्त्व हैं। जो असत् है, वह नित्य नहीं है और जो सत् है, उसका कभी नाश नहीं होता। इस प्रकार इन दोनों के ही स्वरूप को तत्त्वदर्शी लोग जान लेते हैं।
१६. [येथे तत्त्वविज्ञान असे आहे की] ‘सत्’ आणि ‘असत्’ अशी दोन तत्त्वे आहेत. जे असत् आहे ते नित्य नाही, आणि जे सत् आहे त्याचा कधीही नाश होत नाही. अशा प्रकारे या दोन्हींचे स्वरूप तत्त्वदर्शी लोक जाणून घेतात.

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति॥17॥
17। [अब सत्-वस्तु का विचार सुनो,] जो सारे शरीर में व्याप्त है, वह है आत्मा, उसे ही तुम अविनाशी समझो। उस अव्यय (नित्य) ‘सत्’ वस्तु का विनाश कोई नहीं कर सकता।
१७. [आता ‘सत्’ वस्तूचा विचार ऐक.] जो संपूर्ण शरीरात व्याप्त आहे तोच आत्मा आहे; त्यालाच तू अविनाशी समज. त्या अव्यय (नित्य) ‘सत्’ वस्तूचा विनाश कोणीही करू शकत नाही.
१७. [आता सत्-वस्तूचा विचार ऐक,] जो संपूर्ण शरीरात

व्याप्त आहे, तो आत्मा आहे, त्यालाच तू अविनाशी समज. त्या अव्यय म्हणजे नित्य असणाऱ्या ‘सत्’ वस्तूचा विनाश कोणीही करू शकत नाही.

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥18॥
18। [दूसरी ओर] नित्य, अविनाशी (नाशरहित), अपरिमेय (जिसे मापा न जा सके, ऐसी) जो देही जीवात्मा है, उसका शरीर ही मात्र नाशवान् [अतएव ‘असत्’] बताया गया है। इसलिए हे अर्जुन, [इस ‘सत्’ तथा ‘असत्’ विज्ञान के आधार पर तुम कर्त्तव्य विचार से] युद्ध करो।
१८. [दुसरीकडे] नित्य, अविनाशी म्हणजे नाशरहित, अपरिमेय म्हणजे ज्याचे मोजमाप करता येत नाही, असा जो देही जीवात्मा आहे, त्याचे शरीर मात्र नाशवंत [म्हणून ‘असत्’] असे सांगितले आहे. म्हणून हे अर्जुन, [या ‘सत्’ आणि ‘असत्’ विज्ञानाच्या आधारावर तू कर्तव्याचा विचार करून] युद्ध कर.
१८. [दुसरीकडे] नित्य, अविनाशी (नाशरहित), अपरिमेय (ज्याचे मोजमाप करता येत नाही असा) जो देही जीवात्मा आहे, त्याचे शरीर मात्र नाशवान [म्हणूनच ‘असत्’] सांगितले गेले आहे. म्हणून हे अर्जुन, [या ‘सत्’ आणि ‘असत्’ अशा विज्ञानाच्या आधारावर तू कर्तव्यभावनेने] युद्ध कर.

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥19॥
19। जो व्यक्ति इस आत्मा को वध करने वाला मानता है और
जो इस आत्मा को वध हुआ मानता है, वे दोनों ही अज्ञानी हैं, क्योंकि यह आत्मा न तो किसी को मारता है और न ही किसी के द्वारा मारा जाता है।
१९। जी व्यक्ती या आत्म्याला वध करणारा मानते आणि जी व्यक्ती या आत्म्याला वध झालेला मानते, त्या दोन्ही व्यक्ती अज्ञानी आहेत, कारण हा आत्मा ना कोणाला मारतो आणि ना कोणाकडून मारला जातो.
१९. जो मनुष्य या आत्म्याला वध करणारा मानतो आणि जो या आत्म्याला वध झालेला मानतो, ते दोघेही अज्ञानी आहेत. कारण आत्मा ना कोणाला मारतो, ना कोणाकडून मारला जातो.

□ □□□□□ □□□□□□□ □□ □□□□□-
□□□□□□ □□□□□□ □□□□□ □□ □ □□□□□
□□□ □□□□□□ □□□□□□□□□□ □□□□□□
□ □□□□□□ □□□□□□□□ □□□□□□□**20**□

20। [क्योंकि, आत्म-तत्त्व यह है कि,] यह आत्मा न कभी जन्म लेता है और न ही कभी मरता है। इसकी बार-बार उत्पत्ति एवं वृद्धि भी नहीं होती। आत्मा—अजन्मा, नित्य, शाश्वत (हमेशा रहने वाला) और पुरातन (सबसे प्राचीन किन्तु रूपान्तरहीन) है; शरीर के मारे जाने पर भी इसकी मृत्यु नहीं होती।
२०. [कारण आत्मतत्त्व असे आहे की] आत्मा कधी जन्म घेत नाही आणि कधी मरतही नाही. त्याची वारंवार उत्पत्ती किंवा वाढ होत नाही. आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत (नेहमी जिवीत किंवा चेतन असणारा) आणि पुरातन (सर्वात प्राचीन असूनही रूपांतरहीन) आहे. शरीर नष्ट झाले तरी आत्म्याचा नाश होत नाही.

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥21॥
21। अतएव हे पार्थ! जिसने जान लिया है कि यह आत्मा नाशरहित, नित्य (हमेशा रहने वाला), अजन्मा और अव्यय (मृत्युरहित) है, वह किसी को कैसे मरवा सकता है या स्वयं मार सकता है?
२१। म्हणूनच हे पार्थ! ज्याने हे जाणले आहे की हा आत्मा नाशरहित, नित्य (नेहमी असणारा), अजन्मा आणि अव्यय (मृत्युरहित) आहे, तो कोणाला कसे मारवितो किंवा स्वतः कसा मारू शकतो?
२१. म्हणूनच, हे पार्थ! ज्याने जाणले आहे की हा आत्मा नाशरहित, नित्य (नेहमीच चेतन असणारा), अजन्मा आणि अव्यय (मृत्युरहित) आहे, तो दुसऱ्यांकडून कोणाची हत्या कशी करवून घेऊ शकतो किंवा स्वतः कोणाला कसा मारू शकतो?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥22॥
22। [पुनः] मनुष्य जैसे फटे-पुराने वस्त्रों को उतारकर दूसरे नये वस्त्र पहन लेता है, ठीक उसी तरह यह जीवात्मा जीर्ण (पुराने) शरीर को त्यागकर दूसरे नये शरीर धारण करता है। [अतः इसके लिए इतना दुःखी क्यों हो रहे हो?]

२२. [पुन्हा] मनुष्य जसा फाटकी व जीर्ण वस्त्रे काढून नवी वस्त्रे परिधान करतो, तसाच हा जीवात्मा जुने व जीर्ण शरीर सोडून दुसरे नवे शरीर धारण करतो. [म्हणून यासाठी तू इतका दुःखी का होत आहेस?]

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥23॥
23। और यह आत्मा ऐसी वस्तु है कि, इसे न अस्त्र-शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गीला कर सकता है और न वायु सुखा सकती है।
२३। आणि हा आत्मा तर अशी वस्तू आहे की, याला ना शस्त्र-अस्त्रे कापू शकतात, ना अग्नी जाळू शकतो, ना पाणी भिजवू शकते आणि ना वारा सुकवू शकतो.
२३. हा आत्मा तर अशी वस्तू आहे की, याला ना अस्त्र-शस्त्रांनी कापता येते, ना अग्नी त्याला जाळू शकतो, ना पाणी त्याला ओले करू शकते आणि ना वायू त्याला वाळवू शकतो.

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥24॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥25॥
24-25। इसीलिए इस आत्मा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि, इसे न काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न गीला किया जा सकता है और न ही सुखाया जा सकता है, यह नित्य (चिरकाल रहने वाला), सर्वव्यापी (सभी योनियों में भ्रमण करने वाला), स्थिर, अविचलित (अपरिवर्तनशील) और सनातन (सदा रहने वाला) है। यह आत्मा अव्यक्त (इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता), अचिन्त्य (मन का विषय नहीं) और अविकारी (जन्म आदि छः विकारों से रहित) है। अतएव जीवात्मा के सम्बन्ध में ऐसा जानने के बाद तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।
२४–२५. म्हणून या आत्म्याविषयी असे म्हटले जाते की, याला ना कापता येते, ना जाळता येते, ना ओले करता येते आणि ना वाळवता येते. तो नित्य (चिरकाल टिकणारा), सर्वव्यापी (सर्वत्र योनींमध्ये भ्रमण करणारा), स्थिर, अविचल (अपरिवर्तनशील) आणि सनातन (सदैव अस्तित्वात असणारा) आहे. हा आत्मा अव्यक्त (इंद्रियांद्वारे न जाणता येणारा), अचिंत्य

(मनाच्या आकलनाच्या पलीकडील) आणि अविकारी (जन्म इत्यादी सहा विकार नसलेला) आहे. म्हणून जीवात्म्याविषयी असे जाणल्यावर तुला शोक करणे योग्य नाही.

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि॥26॥
26। अथवा [दूसरे नास्तिकों के विचार अनुसार भी] यदि तुम इसे सदा जन्म लेने वाला या सदा मरने वाला मानते हो तो भी हे महाबाहो, इस प्रकार शोक करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।
२६। अथवा [इतर नास्तिकांच्या मताप्रमाणेही] जर तू याला सदा जन्म घेणारा किंवा सदा मरणारा मानत असशील, तरीही हे महाबाहो, अशा प्रकारे शोक करणे तुला उचित नाही.
२६. अथवा [इतर नास्तिकांच्या मतानुसारही] जर तू आत्म्याला सतत जन्म घेणारा किंवा सतत मरणारा मानत असशील, तरीही हे महाबाहो, अशा प्रकारे शोक करणे तुझ्यासाठी योग्य नाही.

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्धुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥27॥
27। [फिर तार्किकों का यह विचार है कि,] जन्म के बाद जीवों की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए व्यक्ति का जन्म भी निश्चित है, इसको टाला नहीं जा सकता। अतः इस विषय में भी शोक करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।
२७. [पुन्हा तार्किकांच्या मतानुसार] जन्मानंतर जीवांचा मृत्यू निश्चित आहे आणि मृत झालेल्या व्यक्तींचा जन्मही निश्चित आहे—हे टाळता येत नाही. म्हणून या विषयी शोक करणे तुझ्यासाठी योग्य नाही.

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥28॥
28। [पुनः देह-तत्त्व के विचार से] सारे प्राणी तथा पदार्थ पैदा होने से पहले अव्यक्त रहते हैं, बीच में अर्थात् जन्म के बाद तथा मृत्यु से पहले मात्र प्रकट रहते हैं और फिर मरने या नष्ट होने पर अव्यक्त हो जाते हैं। ऐसी हालत में हे भारत, शरीर के लिए शोक क्यों?।
२८. [पुन्हा देह-तत्त्वाच्या विचाराने] सर्व प्राणी आणि पदार्थ जन्म होण्यापूर्वी अव्यक्त असतात; मधल्या काळात, म्हणजे जन्मानंतर आणि मृत्यूपूर्वी, ते केवळ प्रकट अवस्थेत असतात; आणि मृत्यू किंवा नाश झाल्यावर पुन्हा अव्यक्त (अप्रकट) होतात. अशा परिस्थितीत, हे भारत, शरीरासाठी शोक का करतो आहेस?

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥29॥
29। [क्योंकि आत्म-तत्त्व सबको समझ आने वाला नहीं है, इसलिए] कोई इस आत्म-तत्त्व को आश्चर्य से देखता है, कोई इसका आश्चर्य के भाव से वर्णन करता है, कोई मानो आश्चर्य समझकर सुनता है और कोई ऐसा देख-सुनकर भी इसे नहीं जान पाता।
२९. [कारण आत्म-तत्त्व सर्वांना सहज समजणारे नाही, म्हणून] कोणी या आत्म-तत्त्वाकडे आश्चर्याने पाहतो, कोणी त्याचे आश्चर्यभावाने वर्णन करतो, कोणी ते जणू आश्चर्य मानून ऐकतो, तर कोणी असे पाहून व ऐकूनही त्याला जाणू शकत नाही.

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥30॥
30। [वहाँ संक्षेप में बात यह है कि,] हे भारत! सभी प्राणियों के शरीर में स्थित यह आत्मा नित्य तथा अवध्य (कभी नहीं मारा जा सकता) है; इसलिए किसी भी प्राणी के लिए शोक करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।
३०. [संक्षेपाने सांगायचे झाले तर] हे भारत! सर्व प्राण्यांच्या शरीरात स्थित आत्मा नित्य आणि अवध्य (कधीही

मारला जाऊ शकत नाही असा) आहे. म्हणून कोणत्याही प्राण्यासाठी शोक करणे तुझ्यासाठी उचित नाही.

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥31॥
31| और फिर वर्णाश्रमगत स्वधर्म के विचार से देखें, तो भी तुम्हें विचलित नहीं होना चाहिए। क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मोचित युद्ध से बढ़कर कोई दूसरा कल्याणकारी कर्त्तव्य नहीं है।
३१. आणि मग वर्णाश्रमगत स्वधर्माच्या विचाराने पाहिले तरी तुला विचलित होता कामा नये. कारण क्षत्रियासाठी धर्मोचित युद्धापेक्षा श्रेष्ठ, कल्याणकारी असे दुसरे कोणतेही कर्तव्य नाही.
३१। आणि पुन्हा वर्णाश्रमानुसार स्वधर्माच्या दृष्टीने पाहिले, तरही तू विचलित होऊ नयेस. कारण क्षत्रियासाठी धर्माला धरून असलेल्या युद्धापेक्षा अधिक कल्याणकारी दुसरे कोणतेही कर्तव्य नाही.

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥32॥
32। अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार
के समान इस प्रकार के धर्मयुद्ध को भाग्यशाली क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं।
३२। आपोआप प्राप्त झालेल्या आणि उघडलेल्या स्वर्गाच्या दारासारखे असलेले असे हे धर्मयुद्ध भाग्यवान क्षत्रियांनाच प्राप्त होते.
३२। या प्रकारचे धर्मयुद्ध स्वतःहून प्राप्त झालेल्या आणि उघड्या स्वर्गाच्या दरवाज्यासारखे आहे. हे भाग्यवान क्षत्रिय योद्ध्यांनाच प्राप्त होते.

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥33॥
अकीर्त्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते॥34॥
33-34। और यदि तुम इस धर्मयुद्ध से मुँह मोड़ोगे तो

अपने धर्म और कीर्ति को खोकर पाप के भागीदार बनोगे। और सब लोग सदा तुम्हारी अपकीर्ति का बखान करेंगे। सम्मानित व्यक्ति के लिए यह बदनामी मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक होती है।
३३-३४. आणि जर तू या धर्मयुद्धापासून माघार घेतलीस, तर स्वतःचा धर्म आणि कीर्ती गमावून पापाचा भागीदार होशील. आणि सर्व लोक तुझी अपकीर्ती सतत सांगत राहतील. सन्मानित व्यक्तीसाठी ही बदनामी मृत्यूपेक्षा अधिक वेदनादायक असते. ३३–३४. आणि जर तू या धर्मयुद्धापासून पाठ फिरवशील, तर स्वतःचा धर्म आणि कीर्ती गमावून पापाचा भागीदार होशील. तसेच सर्व लोक तुझी अपकीर्ती सदैव सांगतील; आणि मान्यवर व्यक्तीसाठी अशी बदनामी मृत्यूपेक्षाही अधिक दुःखदायक असते.

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषाञ्च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥35॥
35। सब महारथी तुम्हें युद्ध से डरकर भागा हुआ मानेंगे। और आज तक जो लोग तुम्हारा बहुत सम्मान करते आये हैं, वे भी तुम्हें तुच्छ समझेंगे।
३५. सर्व महारथी तुला युद्धाला घाबरून पळून गेलेला समजतील. आणि आजपर्यंत जे लोक तुझा फार आदर करत आले आहेत, तेही तुला तुच्छ मानतील.
३५. सर्व महारथी तुला युद्धातून भीतीपोटी पळून गेलेला समजतील; आणि आजपर्यंत जे लोक तुझा मोठा सन्मान करीत आले आहेत, तेही तुला तुच्छ मानतील.

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः। निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥36॥
36। दूसरी ओर तुम्हारे शत्रु तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत-सी न कहने योग्य बातें कहेंगे। कहो तो इससे अधिक दुःख की बात और क्या होगी?
३६. दुसरीकडे, तुझे शत्रू तुझ्या सामर्थ्याची निंदा करताना अनेक न बोलण्यासारख्या गोष्टी बोलतील. सांग, याहून अधिक दुःखदायक गोष्ट आणखी काय असू शकते?
३६. दुसरीकडे तुझे शत्रू तुझ्या सामर्थ्याची निंदा करत अनेक न सांगण्यासारख्या गोष्टी बोलतील; सांग, यापेक्षा

अधिक दुःखदायक गोष्ट आणखी काय असू शकते?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥37॥
37। बल्कि युद्ध में मारे गये तो स्वर्ग मिलेगा, जीत गये तो पृथ्वी का राज्य भोगोगे। इसलिए हे कौन्तेय, युद्ध के लिए संकल्प करके उठ खड़े होओ।
३७. उलट, युद्धात मारला गेलास तर तुला स्वर्ग मिळेल; आणि जिंकलास तर पृथ्वीचे राज्य भोगशील. म्हणूनच, हे कौन्तेय, युद्धासाठी संकल्प करून उठून उभा राहा.

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥38॥
38। [यदि गुरु-हत्या आदि पापों की आशंका है, तो सुनो—] सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय इन सबको एक समान समझकर [केवल ‘स्वधर्म’ पालन के विचार से] युद्ध के लिए कमर कस लो। इस प्रकार तुम पाप से बच सकोगे।
३८। [जर गुरुहत्या इत्यादी पापांची भीती वाटत असेल, तर ऐक—] सुख-दुःख, लाभ-हानी, जय-पराजय यांना समान समजून [फक्त ‘स्वधर्म’ पालनाच्या विचाराने] युद्धासाठी सज्ज हो. अशा प्रकारे तू पापापासून वाचशील.

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणु। बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥39॥
39। हे पार्थ! अब तक मैंने तुम्हें ‘सांख्य’ (आत्म-तत्त्व) के संबंध में बताया है। अब तुम ‘भक्तियोग’-समन्वित बुद्धि के बारे में सुनो—जिसको समझकर तुम कर्म-बंधन (संसार) से पूरी तरह छूट जाओगे।
३९. हे पार्थ! आतापर्यंत मी तुला ‘सांख्य’ (आत्मतत्त्व) विषयी सांगितले आहे. आता तू ‘भक्तियोग’-समन्वित बुद्धीबद्दल ऐक—ज्याला समजून तू कर्मबंधनातून (संसारातून) पूर्णपणे मुक्त होशील.
३९. हे पार्थ! आतापर्यंत मी तुला ‘सांख्य’ म्हणजे आत्मतत्त्वाच्या संबंधाने सांगितले आहे. आता तू ‘भक्तियोग’-समन्वित बुद्धीविषयी ऐक— ज्याचे आकलन केल्यावर तू कर्मबंधनातून (संसारातून) पूर्णपणे मुक्त

होशील.

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥40॥
40। इस योग में की गई चेष्टा कभी व्यर्थ नहीं होती।
इसमें विघ्न-बाधा भी नहीं आती तथा विपरीत फल भी नहीं होता।
इस अनुष्ठान का थोड़ा सा पालन भी जीव को बड़े भारी [संसार रूपी] भय से बचा लेता है।
४०. या योगात केलेला प्रयत्न कधीही व्यर्थ जात नाही. यात विघ्न-बाधाही येत नाहीत आणि विपरीत फलही प्राप्त होत नाही. या आचरणाचे थोडेसे पालनदेखील जीवाला मोठ्या [संसाररूपी] भयापासून वाचवते.
४०. या योगात केलेला प्रयत्न कधीही व्यर्थ जात नाही. यात विघ्न-बाधा येत नाही आणि विपरीत फलही प्राप्त होत नाही. या अनुष्ठानाचे थोडेसे पालनही जीवाला [संसाररूपी] मोठ्या भयापासून वाचवते.

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥41॥

41। हे कुरुनन्दन! इस योग में [ईश्वर-आराधना लक्षित होने के कारण] बुद्धि एकाग्र (एकनिष्ठा) एवं निश्चयात्मिका रखनी होती है। अव्यवसायी (ईश्वर-विमुख सकाम विचारों वाले) व्यक्तियों की कामात्मक बुद्धियाँ अनन्त और साधन अनेक शाखाओं वाला होता है।
४१. हे कुरुनन्दन! या योगात [ईश्वराची आराधना हेच लक्ष्य असल्यामुळे] बुद्धी एकाग्र (एकनिष्ठा) आणि निश्चयात्मिका ठेवावी लागते. परंतु अव्यवसायी (ईश्वर-विमुख, सकाम विचार असलेल्या) व्यक्तींच्या कामात्मक (कामनात्मक) बुद्ध्या अनंत असतात आणि साधने अनेक शाखा (फांद्या) असलेली असतात.

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥42॥
कामात्मानः स्वर्गपराः जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥43॥

42-43। हे पार्थ, ये सब मूर्ख लोग वेदों के उन तात्कालिक मोहक शब्दों को ही वेद-वाणी मानकर उनमें फँसे रहते हैं, जिनसे इन्द्रियों की तृप्ति होती है, स्वर्ग की प्राप्ति होती है और इस प्रकार के भोग और ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए जन्म एवं कर्मफल देने वाली तरह-तरह की विशेष क्रियाएँ (आड़म्बर) बताई गई हैं। वे वेदों के गौण-अर्थ में मग्न होकर कहते हैं कि, ‘वेदों में इससे बढ़कर और कुछ नहीं है’।
४२–४३. हे पार्थ, हे सर्व मूर्ख लोक वेदांतील तात्कालिक मोहक शब्दांनाच वेदवाणी समजून त्यातच गुंतून राहतात— ज्यामुळे इंद्रियांची तृप्ती होते, स्वर्गप्राप्ती होते, आणि ज्यात भोग व ऐश्वर्य मिळवण्यासाठी जन्म व कर्मफल देणाऱ्या विविध प्रकारच्या विशेष क्रिया (आडंबर किंवा अवडंबर) सांगितल्या जातात. ते वेदांच्या गौण अर्थामध्येच मग्न राहून म्हणतात की, ‘वेदांमध्ये यापेक्षा अधिक काही नाही’.
४२–४३. हे पार्थ, जे लोक वेदांच्या केवळ त्या तात्कालिक मोहक शब्दांनाच खरी वेद-वाणी मानून त्यात अडकून पडतात, ज्यांद्वारे केवळ इंद्रिय तृप्ती आणि स्वर्गाची प्राप्ती होते; तसेच अशा प्रकारचे भोग आणि ऐश्वर्य मिळवण्यासाठी ज्यामध्ये जन्म व कर्मफल देणाऱ्या वेगवेगळ्या प्रकारच्या विशेष क्रिया (कर्मकांडांचे अवडंबर) सांगितल्या आहेत, ते सर्व मूर्ख (अल्पज्ञानी) लोक आहेत. ते वेदांच्या केवळ गौण अर्थातच मग्न होऊन असे म्हणतात की, ‘वेदांमध्ये या पलीकडे (यापेक्षा श्रेष्ठ) दुसरे काहीच नाही’.

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥44॥

44। यह सब बातें उन्हीं सब लोगों का मन हरण करती हैं, जो भोग और ऐश्वर्य में पूरी तरह आसक्त रहते हैं; इसीलिए ऐसे लोगों का ‘समाधि’ अर्थात् परमेश्वर के भजन के प्रति निश्चयात्मिका बुद्धि (दृढ़ संकल्प) नहीं होती।
४४। ज्यांचे मन भोग आणि ऐश्वर्यामध्ये पूर्णपणे आसक्त झाले आहे, अशाच लोकांचे मन वेदांतील तात्कालिक मोहक शब्द हरण करतात; म्हणूनच अशा लोकांची ‘समाधी’मध्ये म्हणजेच परमेश्वराच्या भक्तीमध्ये निश्चयात्मिका बुद्धी नसते (अर्थात दृढ संकल्प नसतो).
४४. वेदांतील तात्कालिक मोहक शब्द त्यांच्याच मनाला भुरळ घालतात, जे भोग आणि ऐश्वर्य यांत पूर्णपणे आसक्त असतात. म्हणून अशा लोकांची ‘समाधी’—म्हणजे परमेश्वराच्या भजनाविषयी दृढ निश्चयात्मक बुद्धी म्हणजेच दृढ संकल्प— कधीही होत नाही.

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
45॥

45। हे अर्जुन! बाह्य दृष्टि से लगता है कि वेदों में सत्त्व, रज और तम —प्रकृति के इन तीनों गुणों की ही चर्चा की गई है; किन्तु तुम वेदों का वास्तविक तात्पर्य ‘निर्गुणता’ का अवलम्बन करो अर्थात् इन तीनों गुणों से ऊपर उठो। [उसका उपाय यह है कि,] तुम ‘निर्द्वन्द्व’ होओ अर्थात् मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से मुक्त होओ; ‘नित्यसत्त्वस्थ’ होओ अर्थात् सदा शुद्ध भक्त के संग में रहो तथा ‘योग-क्षेम’ अर्थात अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति (योग) एवं उस वस्तु की रक्षा (क्षेम) की सारी चिन्ताओं से मुक्त होकर ‘आत्मवान्’ होओ अर्थात् केवल परमात्मा विश्वम्भर श्रीहरि को ही अपने पालनकर्त्ता के रूप में वरण करो।
४५। हे अर्जुन! बाह्य दृष्टीने असे वाटते की वेदांमध्ये सत्व, रज आणि तम या प्रकृतीच्या तिन्ही गुणांचीच चर्चा केली आहे; परंतु तू वेदांचे वास्तविक तात्पर्य असलेल्या ‘निर्गुणत्वाचा’ अवलंब कर, म्हणजेच या तिन्ही गुणांच्या पलीकडे जा. [त्यासाठी उपाय असा आहे की:] तू ‘निर्द्वंद्व’ हो—मान-अपमान इत्यादी द्वंद्वांपासून मुक्त हो; ‘नित्यसत्त्वस्थ’ हो—सदा शुद्ध भक्तांच्या संगतीत राहा; आणि ‘योग-क्षेम’ म्हणजे अप्राप्त वस्तूची प्राप्ती (योग) व प्राप्त वस्तूचे रक्षण (क्षेम) यांची चिंता सोडून ‘आत्मवान्’ हो—फक्त परमात्मा विश्वंभर श्रीहरींनाच आपल्या पालनकर्त्याच्या रूपात स्वीकार.
४५. हे अर्जुन! बाह्य दृष्टिकोनातून पाहता वेदांमध्ये सत्त्व, रज आणि तम—या प्रकृतीच्या तीन गुणांचीच चर्चा दिसते. पण तू वेदांचा खरा तात्पर्य स्वीकार, म्हणजे ‘निर्गुणते’चा आधार घे आणि या तीन गुणांवर मात कर. [त्याचा उपाय हा आहे की,] तू ‘निर्द्वंद्व’ हो, म्हणजेच मान-अपमान इत्यादी द्वंद्वांतून मुक्त हो; ‘नित्यसत्त्वस्थ’ हो, म्हणजेच नेहमी शुद्ध भक्तांच्या संगतीत राहा आणि ‘योग-क्षेम’ म्हणजेच अप्राप्त वस्तूची प्राप्ती (योग) आणि प्राप्त वस्तूचे रक्षण (क्षेम) यांच्या सर्व चिंतांतून मुक्त होऊन ‘आत्मवान’ हो, म्हणजेच केवळ परमात्मा विश्वंभर श्रीहरींनाच आपला पालनकर्ता म्हणून स्वीकार कर.

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥46॥

46। [वास्तव में सभी वेदों का तात्पर्य ही ईश्वर-आराधना है, जैसे] छोटे-छोटे कुओं के द्वारा जो सब अलग-अलग कार्य साधित होते हैं, वे सब एक विशाल जलाशय से एक साथ ही पूरे हो जाते हैं। उसी तरह सारे वेदों की अलग-अलग शाखाओं में (अलग-अलग देवताओं की उपासना के द्वारा) जो सब फल प्राप्त होते हैं, वे सब फल वेदों के तात्पर्य को जानने वाले ब्राह्मणों को एक-ईश्वर की आराधना से ही प्राप्त हो जाते हैं।
४६. [खरे तर सर्व वेदांचे तात्पर्य ईश्वर-आराधनाच आहे.] जसे लहान-लहान विहिरींनी जी सर्व वेगवेगळी कामे साधली जातात, ती सर्व एका विशाल जलाशयाने (तलावाने) एकाच वेळी पूर्ण होतात; त्याचप्रमाणे वेदांच्या विविध शाखांमध्ये (वेगवेगळ्या देवीदेवतांच्या उपासनेद्वारे) जे फळ सांगितले आहे, ते संपूर्ण फळ वेदांचा खरा तात्पर्य जाणणाऱ्या ब्राह्मणांना एकाच ईश्वराच्या आराधनेतून प्राप्त होते.

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥47॥

47। [किन्तु जिनमें इन तीनों गुणों से ऊपर उठने का सामर्थ्य नहीं है, उनके लिए कहते हैं—] तुम्हें केवल अपने वर्णाश्रम के धर्म अनुसार कर्म करने का अधिकार है किन्तु उसका फल तुम्हारे अधिकार में नहीं; इसलिए तुम्हें कर्म का अमुक फल मिले ऐसी इच्छा कभी मत रखो और न ही अपने कर्म से दूर रहने की कोशिश करो।
४७. [पण ज्यांच्यात या तीन गुणांवर मात करण्याचे सामर्थ्य नाही, त्यांच्यासाठी सांगितले आहे—] तुला फक्त आपल्या वर्णाश्रमधर्मानुसार कर्म करण्याचा अधिकार आहे; पण त्याचे फळ तुझ्या अधिकारात नाही. म्हणून तुला अमुक फळ मिळावे अशी इच्छा कधीही बाळगू नकोस, आणि आपल्या कर्मापासून दूर राहण्याचाही प्रयत्न करू नकोस.
४७। [परंतु ज्यांच्यामध्ये या तिन्ही गुणांच्या पलीकडे जाण्याचे सामर्थ्य नाही, त्यांच्यासाठी असे म्हटले आहे की—] तुला केवळ तुझ्या वर्णाश्रम धर्मानुसार कर्म करण्याचा अधिकार आहे, परंतु त्याचे फळ तुझ्या अधिकारात नाही; म्हणूनच, तुला कर्माचे अमुक फळ मिळावे अशी इच्छा कधीही ठेवू नकोस आणि कर्माचा त्याग करण्याचा (कर्म टाळण्याचा) विचारही करू नकोस.

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय। सिद्ध्यसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥48॥
48। [यहाँ मेरा उपदेश है कि,] हे धनञ्जय! ‘योग’ का आश्रय लेकर, कर्म में आसक्ति को छोड़कर अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्म करो। [यदि कहते हो कि, ‘योग’ क्या है, तो सुनो,] कर्मफल की सफलता और असफलता, दोनों विषयों में समान-भाव रखने को ही योग कहा जाता है।
४८. [माझा उपदेश असा आहे की,] हे धनंजय! ‘योगा’चा आश्रय घेऊन, कर्मात आसक्ती सोडून आपल्या वर्णाश्रमधर्मानुसार कर्म कर. [जर विचारशील की ‘योग’ म्हणजे काय, तर ऐक—] कर्मफळाच्या यश-अपयश या दोन्ही विषयांत समानभाव ठेवणे, हाच ‘योग’ होय.

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥49॥
49। हे धनञ्जय! बुद्धियोग का सहारा लेकर जो कर्म किया

जाता है, वह निष्काम है; इससे सकाम कर्म बहुत ही तुच्छ है। फल की इच्छा रखने वाले मनुष्य ‘कृपण’ हैं (अर्थात् कर्म करके भी उसके वास्तविक फल से वंचित हैं)। इसलिए उस बुद्धियोग का ही आश्रय लो।
४९। हे धनंजय! बुद्धियोगाचा आधार घेऊन जे कर्म केले जाते, ते निष्काम असते; याच्या तुलनेत सकाम कर्म (फळाच्या आशेने केलेले कर्म) अत्यंत तुच्छ आहे. फळाची इच्छा ठेवणारे मनुष्य ‘कृपण’ [कंजूष किंवा चिक्कू] आहेत (अर्थात कर्म करूनही ते त्याच्या वास्तविक फळापासून वंचित राहतात). म्हणूनच तू त्या बुद्धियोगाचाच आश्रय घे.

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥50॥
50। ‘बुद्धियोग’ से युक्त व्यक्ति इस जन्म में ही पाप
और पुण्य दोनों को त्याग देता है। उसी योग के लिए चेष्टा करो क्योंकि बुद्धियोग ही वास्तव में कर्म की कुशलता है।
५०. ‘बुद्धियोग’युक्त मनुष्य या जन्मातच पाप आणि पुण्य दोन्हीचा त्याग करतो. म्हणून त्या योगासाठीच प्रयत्न कर, कारण बुद्धियोग म्हणजेच खऱ्या अर्थाने कर्माची कुशलता होय.

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥51॥
51। जो लोग ‘बुद्धियोग’ से युक्त हैं, वे विद्वान हैं।
वे कर्मों के फल का त्याग करके (अर्थात् उन्हें मुझमें अर्पण करके), जन्म-मृत्यु के बंधन से छूट जाते हैं और वैकुण्ठ में जा पहुँचते हैं, जहाँ कोई दुःख नहीं होता।
५१. जे लोक ‘बुद्धियोग’युक्त आहेत ते विद्वान आहेत. ते कर्मांच्या फळाचा त्याग करून (म्हणजेच ते फळ मला अर्पण करून) जन्म-मृत्यूच्या बंधनातून मुक्त होतात आणि वैकुंठात पोहोचतात, जिथे दुःखाचा किंचितही स्पर्श नसतो.

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥52॥
52। [जीवों का फल की इच्छा रूपी मोह बहुत प्रबल है, ऐसी अवस्था में] जब तुम्हारी बुद्धि, मोह रूपी दलदल को पार कर जायगी, तब कर्मों के जिस फल के बारे में तुमने पहले सुना है और बाद में सुनोगे, उसके प्रति तुम्हारा वैराग्य उत्पन्न होगा।
५२. [जीवांचा फळाची इच्छारूपी मोह फार प्रबळ असतो, अशा अवस्थेत] पण जेव्हा तुझी बुद्धी मोहरूपी दलदलीतून पार होईल, तेव्हा कर्मांच्या ज्या फळाविषयी तू आधी ऐकले आहेस आणि पुढे ऐकशील—त्याच्या प्रती तुझ्या मनात वैराग्य उत्पन्न होईल.

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥53॥
53। जब तुम्हारी बुद्धि वेदों के विभिन्न अर्थों को सुनकर भी विचलित न होकर ‘समाधि’ अर्थात् परमेश्वर की आराधना में स्थिर हो जायगी, तब तुम ‘योग’ (आत्मा-परमात्मा की अनुभूति) को प्राप्त हो जाओगे।
५३. जेव्हा तुझी बुद्धी वेदांचे विविध अर्थ ऐकूनही विचलित न होता ‘समाधी’—म्हणजे परमेश्वराच्या आराधनेत स्थिर होईल, तेव्हा तू ‘योग’—आत्मा-परमात्म्याची अनुभूती — प्राप्त करशील.

अर्जुन उवाच—
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥54॥

54। अर्जुन ने कहा,—हे केशव! समाधि में अवस्थित ‘स्थितप्रज्ञ’ (स्थिर बुद्धि वाले) व्यक्ति का क्या लक्षण है? वह स्थिर-बुद्धि पुरुष, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा और स्नेह-द्वेष की स्थिति आने पर किस प्रकार बोलता है, किस प्रकार बैठता है, किस प्रकार चलता है?
५४. अर्जुन म्हणाला,—हे केशव! समाधीत अवस्थित ‘स्थितप्रज्ञ’ (स्थिर बुद्धी असलेल्या) पुरुषाचे लक्षण काय आहे? तो स्थिरबुद्धी पुरुष मान-अपमान, स्तुती-निंदा आणि स्नेह-द्वेषाची परिस्थिती उपस्थित झाल्यास कसा बोलतो, कसा बसतो, आणि कसा चालतो?

श्रीभगवानुवाच—
प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥55॥
55। श्रीभगवान् ने कहा,—जब मनुष्य मन में रहने वाली सब कामनाओं को पूरी तरह त्याग देता है और स्वयं अपने में ही आत्मा के द्वारा (अर्थात् अपने भीतर ही परमात्मा के स्वरूप का अनुभव करते हुए) संतुष्ट रहता है, तब समाधि में स्थित वह व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है।
५५. श्रीभगवान म्हणाले,—जेव्हा मनुष्य मनात राहणाऱ्या सर्व कामना पूर्णपणे त्यागतो आणि स्वतःमध्येच आत्म्याद्वारे (म्हणजे आपल्या अंतःकरणात परमात्म्याचे स्वरूप अनुभवून) संतुष्ट राहतो, तेव्हा समाधीत स्थित तो पुरुष ‘स्थितप्रज्ञ’ म्हणून ओळखला जातो.

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥56॥
56। जब किसी प्रकार के दुःख से उसका मन विचलित नहीं होता, किसी प्रकार के सुख की प्यास नहीं रहती एवं उसके आसक्ति, भय और क्रोध नष्ट हो जाते हैं, तब वह मुनी स्थिर बुद्धि कहलाता है।
५६. जेव्हा कोणत्याही प्रकारच्या दुःखाने त्याचे मन विचलित होत नाही, कोणत्याही प्रकारच्या सुखाची तृष्णा राहत नाही, आणि त्याची आसक्ती, भय व क्रोध नष्ट होतात, तेव्हा तो मुनी स्थिरबुद्धी म्हणून ओळखला जातो.

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥57॥
57। जिसे किसी जड़ वस्तु से स्नेह नहीं होता और कोई शुभ-अशुभ वस्तु पाकर जिसे आनन्द या द्वेष नहीं होता, उसकी बुद्धि स्थिर होती है।
५७. ज्याला कोणत्याही जड (निर्जीव अथवा भौतिक) वस्तूप्रती स्नेह नसतो आणि शुभ-अशुभ वस्तू मिळाल्यावर ज्याला आनंद किंवा द्वेषाचा अनुभव होत नाही, त्याची बुद्धी स्थिर असते.

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥58॥
58। कछुआ जैसे अपने अंगों को सब ओर से इच्छा अनुसार समेट लेता है, वैसे ही जब कोई व्यक्ति विषयों से अपनी इन्द्रियों को हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।
58। ज्याप्रमाणे इच्छेनुसार कासव आपल्या सर्व अवयवांना स्वतःच्या कवचात ओढून घेते, त्याप्रमाणे जेव्हा एखादी व्यक्ती आपली इंद्रिये इंद्रियग्राह्य विषयांपासून दूर ओढते, तेव्हाच तिची बुद्धी स्थिर झाली आहे असे समजावे.

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥59॥
59। [उसकी वह विषय-निवृत्ति साधारण व्यक्ति की तरह नहीं है क्योंकि,] इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण न करने वाले व्यक्ति के विषय तो छूट जाते हैं, पर विषय-भोग की प्यास बनी रहती है। किन्तु परम तत्त्व-वस्तु (परमात्मा) का अनुभव करके वह प्यास भी समाप्त हो जाती है।
५९. [त्या व्यक्तीची ती विषय-निवृत्ती ही सामान्य माणसासारखी नसते,] कारण इंद्रियांनी विषय ग्रहण न करणाऱ्या व्यक्तीचे विषय तर सुटतात, पण विषयभोगाची तहान मात्र भागत नाही. परंतु परम तत्त्व-वस्तूचा (अर्थात परमात्म्याचा) अनुभव घेतल्यावर ती तहानही पूर्णपणे समाप्त होते.

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥60॥
60। हे कौन्तेय! इन्द्रियाँ इतनी बलवान हैं कि उन्हें [योग, प्राणायाम आदि ‘आरोह’-मार्ग के द्वारा] वश में करने का प्रयत्न करने वाले विवेकी व्यक्ति के मन को भी वे बलपूर्वक अपनी ओर खींच लेती हैं।
६०. हे कौन्तेय! इंद्रिये इतकी बलवान आहेत की [योग, प्राणायाम इत्यादी ‘आरोह’-मार्गाने\ त्यांना वश करण्याचा प्रयत्न करणाऱ्या विवेकी व्यक्तीचे मनही त्या जोराने स्वतःकडे खेचून घेतात.
६०. हे कौंतेय! इंद्रिये इतकी बलवान आहेत की, [योग, प्राणायाम इत्यादी ‘आरोह’-मार्गाने] त्यांना वश करण्याचा प्रयत्न करणाऱ्या विवेकी माणसाच्या मनालासुद्धा ती बलपूर्वक आपल्याकडे ओढून घेतात.

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥61॥
61। [इसलिए] योगी को चाहिए कि उन सब इन्द्रियों पर संयम करके मेरे आश्रित हो जाय। इस तरह जिसकी इन्द्रियाँ वश में हो गई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है।
६१. [म्हणून] योगीचे हे कर्तव्य आहे की सर्व इंद्रियांवर संयम बाळगून माझा आश्रय घ्यावा. अशा प्रकारे ज्याची इंद्रिये वश झाली आहेत, त्याची बुद्धी स्थिर होते.

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥62॥
सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥63॥
62-63। [दूसरी ओर जिसने अपना मन मुझमें समर्पित नहीं किया है उसकी दुर्दशा बता रहा हूँ सुनो,] विषयों का ध्यान करने वाले व्यक्ति की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से कामना (अर्थात् उन विषयों की वासना) पैदा होती है, और इस कामना से ही क्रोध पैदा होता है। क्रोध से मोह, मोह से स्मृति में भ्रम होता है (अर्थात् वह शास्त्र के उपदेशों को भूल जाता है)। स्मृति नष्ट हो जाने से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है अर्थात् वह घोर इन्द्रिय-तर्पणमय संसार दशा रूपी पतन को

प्राप्त होता है।
६२-६३. [दुसरीकडे ज्या व्यक्तीने आपले मन माझ्यामध्ये समर्पित केलेले नाही तिची दुर्दशा सांगत आहे, ऐक,] विषयांचे चिंतन करणाऱ्या व्यक्तीला त्या विषयांप्रति आसक्ती निर्माण होते. आसक्तीतून कामना (अर्थात त्या विषयांची वासना) उत्पन्न होते, आणि या कामनेतूनच क्रोध उत्पन्न होतो. क्रोधामुळे मोह, मोहामुळे स्मृतीमध्ये भ्रम उत्पन्न होतो (अर्थात ती व्यक्ती शास्त्रांच्या उपदेशांना विसरून जाते). स्मृती नष्ट झाल्याने बुद्धीचा नाश होतो आणि बुद्धीच्या नाशामुळे व्यक्तीचा सर्वनाश होतो, अर्थात ती घोर इंद्रिय-तर्पणमय संसारदशारूपी पतनाला प्राप्त होते.

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥64॥
64। [किन्तु] ‘विधेयात्मा’ अर्थात् जिसका हृदय मुझमें समर्पित है, उसकी इन्द्रियाँ आत्मा के अधीन होने के कारण विषयों के प्रति आसक्ति या द्वेष से मुक्त होती हैं। इसलिए इन सब इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करने पर भी वह सदा प्रसन्न रहता है। (अर्थात् विषयों के सम्पर्क में आने से जो मन में विकार उत्पन्न होते हैं, वह उनसे पीड़ित नहीं होता)।
६४. [परंतु] ‘विधेयात्मा’ म्हणजे ज्याचे हृदय माझ्यात समर्पित आहे, त्याची इंद्रिये आत्म्याच्या अधीन असल्यामुळे विषयांविषयी आसक्ती किंवा द्वेष यांपासून मुक्त असतात. म्हणूनच या सर्व इंद्रियांनी विषय ग्रहण केले तरी तो सदैव प्रसन्न राहतो. (म्हणजे विषयांच्या संपर्काने मनात जे विकार उत्पन्न होतात, त्याने तो पीडित होत नाही).

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥65॥
65। चित्त प्रसन्न रहने से उसके [संसार में रहने के कारण पैदा हुए] सब दुःखों का नाश हो जाता है। और, फलस्वरूप उस व्यक्ति की बुद्धि पूरी तरह से अपने आराध्यदेव में स्थिर हो जाती है।
६५. चित्त प्रसन्न राहिल्यामुळे त्या व्यक्तीची [संसारात राहिल्याने उत्पन्न झालेली] सर्व दुःखे नष्ट

होतात. आणि परिणामी तिची बुद्धी पूर्णपणे आपल्या आराध्यदेवामध्ये स्थिर होते.

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥66॥
66। [दूसरी ओर] मेरे साथ जिसका सम्बन्ध नहीं हुआ, उस ‘अयुक्त’ व्यक्ति की परमार्थ के प्रति दृढ़ बुद्धि नहीं रहती, फलस्वरूप उसकी भगवद्-भावना भी नहीं होती। भगवद्- भावनाहीन व्यक्ति को शान्ति नहीं मिलती, और अशान्त व्यक्ति को आत्मानुभव-रूपी परम सुख कैसे मिल सकता है?
६६. [दुसरीकडे] जिचा माझ्याशी संबंध झाला नाही, त्या ‘अयुक्त’ व्यक्तीची परमार्थाविषयी दृढ बुद्धी राहत नाही. तिला भगवद्भावना होत नाही. व्यक्तीला शांती मिळत नाही, आणि अशांत व्यक्तीला आत्मानुभव-रूपी परमसुख कसे मिळणार?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥67॥
67। विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से किसी एक इन्द्रिय के पीछे भी यदि मन चल पड़ता है तो वह उसकी ‘प्रज्ञा’ (आत्म-विषयक ज्ञान) को इस प्रकार हर लेती है जैसे जल में मल्लाह के बिना तैर रही नाव को वायु खींचा करती है।
67। विषयांमध्ये (उपभोग्य वस्तूंमध्ये) विचरणाऱ्या इंद्रियांपैकी कोण्या एका इंद्रियामागे जरी मन धावू लागले, तरी ते मन त्या व्यक्तीची ‘प्रज्ञा’ (आत्मविषयक ज्ञान) अशा प्रकारे हिरावून नेते, ज्याप्रमाणे पाण्यावर नाविक नसलेल्या तरंगणाऱ्या नौकेला वारा ओढून नेतो.

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥68॥
68। इसलिए हे महाबाहो! [सार बात यह है कि] जिस व्यक्ति
की इन्द्रियाँ विषयों से सब ओर से हट जाती हैं (अर्थात् आत्मा के अधीन हो जाती हैं), उसकी बुद्धि ही स्थिर है।
६८. म्हणून हे महाबाहो! [सारांश हाच आहे की] ज्या व्यक्तीची इंद्रिये विषयांपासून सर्व बाजूंनी परावृत्त होतात (अर्थात आत्म्याच्या अधीन होतात), तिचीच बुद्धी

स्थिर आहे.
६८. म्हणून, हे महाबाहो! [सारांश हाच आहे की] ज्या व्यक्तीची इंद्रिये विषयांपासून सर्व बाजूंनी दूर होतात (म्हणजे आत्म्याच्या अधीन होतात), तिची बुद्धीच स्थिर असते.

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥69॥
69। [साधारण लोग और स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति में क्या अन्तर है, वह सुनो,] जिस आत्म-तत्त्व की निष्ठा के प्रति सब प्राणी रात की नींद की तरह सोये रहते हैं, स्थितप्रज्ञ व्यक्ति उसमें हमेशा जागता रहता है। एवं जिन सांसारिक विषयों की निष्ठा में प्राणी जागते रहते हैं, तत्त्वदर्शी मुनियों को वह रात मालूम होती है।
६९. [सामान्य लोक आणि स्थिर बुद्धी असलेल्या व्यक्तीमध्ये काय फरक आहे, ते ऐक—] ज्या आत्मतत्त्वाच्या निष्ठेत सर्व प्राणी रात्रीच्या झोपेसारखे निद्रिस्त असतात, स्थितप्रज्ञ व्यक्ती त्यात सदैव जागी असते. आणि ज्या सांसारिक विषयांच्या निष्ठेत प्राणी जागे राहातात, तत्त्वदर्शी मुनींना ती रात्र वाटते.
६९. [सामान्य लोक आणि स्थिरबुद्धी व्यक्तीमध्ये काय फरक आहे, ते ऐक,] ज्या आत्म-तत्त्वाच्या निष्ठेबाबत सर्व प्राणी रात्रीच्या झोपेप्रमाणे निद्रिस्त असतात, स्थितप्रज्ञ व्यक्ती त्यामध्ये नेहमी जागृत असते. आणि ज्या सांसारिक विषयांच्या निष्ठेत प्राणी जागे असतात, ती तत्त्वदर्शी मुनींना रात्र वाटते.

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥70॥
70। [और भी देखो,] जैसे समुद्र सदा जल से भरा रहता है किन्तु उसमें अनेक नदियों का जल लगातार भरते रहने पर भी वह ‘अचलप्रतिष्ठ’ अर्थात् स्थिरता में प्रतिष्ठित रहता है। उसी प्रकार सब कामनाएँ यदि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति में प्रवेश भी कर जायें तो भी उसे विचलित नहीं कर पाती बल्कि वह

ही शांति प्राप्त करता है। भोगों की कामना करने वाले को कभी शान्ति नहीं मिल सकती।
70। [आणखी बघ,] ज्याप्रमाणे समुद्र नेहेमी पाण्याने तुडुंब भरला असला तरी त्याच्यात अनेक नद्यांचे पाणी शिरतच असते, तरी तो आपल्या मर्यादेत ‘अचलप्रतिष्ठ’ (स्थिर) राहतो; त्याचप्रमाणे सर्व कामनांचा जर स्थितप्रज्ञ व्यक्तीमध्ये प्रवेश झाला तरी त्या कामना त्या व्यक्तीला विचलित करू शकत नाहीत, उलट ती व्यक्तीच शांती प्राप्त करते. भोगांची कामना करणाऱ्या व्यक्तीला कधीही शांती मिळू शकत नाही.

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥71॥
71। [इसलिए] जो पुरुष सब भोग-वासनाओं को छोड़कर कामना रहित विचरता है उस निष्काम, ममता रहित और अहंकारहीन व्यक्ति को ही शांति मिलती है।
७१. [म्हणून] जो पुरुष सर्व भोग-वासनांचा त्याग करून कामनारहितपणे विचरण करतो, तो निष्काम, ममतारहित आणि अहंकारहीन असतो. अशा पुरुषालाच खरी शांती प्राप्त होते.

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥72॥
72। हे पार्थ, इसी को कहते हैं ‘ब्राह्मीस्थिति’—इसमें पहुँचने से दुबारा संसार मोह में नहीं फँसना पड़ता है।
जीवन की अन्तिम घड़ी में भी इस दशा को प्राप्त कर पाने से ‘ब्रह्मनिर्वाण’ (जड़ मुक्ति) प्राप्त हो जाता है।
72। हे पार्थ! याच अवस्थेला ‘ब्राह्मी-स्थिती’ असे म्हणतात. ही स्थिती प्राप्त झाल्यावर मनुष्य पुन्हा कधीही सांसारिक मोहात फसत नाही. अगदी मृत्यूच्या वेळी, म्हणजेच जीवनाच्या अंतिम क्षणी जरी ही स्थिती प्राप्त झाली, तरी मनुष्याला ‘ब्रह्मनिर्वाण’ (जडमुक्ती अर्थात जडत्वाच्या बंधनातून चेतनेची मुक्ती) प्राप्त होते.

इति ‘सांख्ययोगो’ नाम द्वितीयऽध्यायः॥
इति द्वितीय अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
इति द्वितीय अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.

तृतीयोऽध्यायः
कर्मयोगः
अर्जुन उवाच—
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥1॥
1। अर्जुन ने पूछा,—हे जनार्द्दन! हे केशव! यदि आप ज्ञान को कर्म से श्रेष्ठ मानते हैं, तो मुझे इस युद्ध रूपी भयंकर कर्म में क्यों लगा रहे हैं?
१. अर्जुन म्हणाला,—हे जनार्दन! हे केशव! आपण जर ज्ञानाला कर्मापेक्षा श्रेष्ठ मानत असाल, तर मग मला या युद्धरूपी भयंकर कर्मात का प्रवृत्त करत आहात?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥2॥
2। आप अनेक प्रकार के अर्थों वाले वचनों से मेरी बुद्धि को मानो मोहित कर रहे हैं। इसलिए ऐसी एक ही बात निश्चित करके कहिये, जिससे मेरा मंगल हो।
२. आपण अनेक अर्थ असलेल्या वाक्यांनी माझी बुद्धी जणू मोहित करत आहात. म्हणून एकच गोष्ट निश्चित करून सांगा, जेणेकरून माझे कल्याण होईल.
२. आपण अनेक अर्थांनी युक्त अशा वाक्यांनी माझी बुद्धी जणू मोहित करत आहात. म्हणून कृपया एकच निश्चित गोष्ट सांगा, जी माझ्या मंगलासाठी उपयुक्त ठरेल.
२. तुम्ही वेगवेगळे अर्थ निघतील अशा बोलण्याने माझी बुद्धी गोंधळात टाकत आहात. म्हणून एकच मार्ग निश्चित करून सांगा, ज्यामुळे माझे मंगल होईल.

श्रीभगवानुवाच—
लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥3॥
3। श्रीभगवान् ने कहा, हे निष्पाप अर्जुन, मैंने पहले
ही बताया है कि, इस संसार में अधिकार के आधार पर दो प्रकार की निष्ठाएँ हैं—एक ज्ञानियों की ज्ञानयोग में और दूसरी योगियों की कर्मयोग में।
३. श्रीभगवान् म्हणाले, हे निष्पाप अर्जुन, मी आधीच सांगितले आहे की, या संसारात अधिकारानुसार दोन प्रकारच्या

निष्ठा आहेत—एक ज्ञानयोगात ज्ञानी व्यक्तींची आणि दुसरी कर्मयोगात योगींची.
३. श्रीभगवान म्हणाले,—हे निष्पाप अर्जुन! मी आधीच सांगितले आहे की या संसारात अधिकाराच्या आधारावर दोन प्रकारच्या निष्ठा आहेत—एक ज्ञानी लोकांची ज्ञानयोगातील आणि दुसरी योगी लोकांची कर्मयोगातील.

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥4॥
4। ‘कर्म’ (अर्थात् शास्त्र में कथित कर्त्तव्य) के न करने से मनुष्य ‘नैष्कर्म्य’ (कर्म से आगे बढ़कर ज्ञान का अधिकार) प्राप्त नहीं कर सकता और संन्यास मात्र से ही उसे सिद्धि मिल सकती है, ऐसा भी नहीं है।
४. ‘कर्माचा’ (म्हणजे शास्त्रविहित कर्तव्याचा) त्याग केल्याने मनुष्य ‘नैष्कर्म्य’ (कर्मातीत ज्ञानाधिकार) प्राप्त करू शकत नाही, आणि केवळ संन्यास घेतल्यानेच त्याला सिद्धी मिळते असेही नाही.
४. ‘कर्म’ (म्हणजे शास्त्रात सांगितलेले कर्तव्य) न केल्याने मनुष्याला ‘नैष्कर्म्य’ (कर्मापलीकडे जाऊन ज्ञानाचा अधिकार) प्राप्त होत नाही. आणि फक्त संन्यासानेच त्याला सिद्धी मिळते, असेही नाही.

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥5॥
5। [क्योंकि] कोई मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। सब मनुष्य अपने स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अधीन होकर कर्म करते हैं।
५. [कारण] कोणताही मनुष्य एक क्षणही कर्म न करता राहू शकत नाही. सर्व मनुष्य आपापल्या स्वभावातून उत्पन्न झालेल्या गुणांच्या अधीन राहून कर्म करतात.

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥6॥
6। [इसलिए केवल बाह्य दृष्टि से संन्यास लेकर] जो मूर्ख व्यक्ति कर्म-इन्द्रियों को हठ से रोककर मन ही मन उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह

मिथ्याचारी अर्थात् ढोंगी और कपटी है।
6। म्हणून, केवळ बाह्य दृष्टीने संन्यास घेऊन जो मूर्ख मनुष्य आपल्या कर्म-इंद्रियांना बळजबरीने रोखतो, परंतु मनातल्या मनात मात्र त्या इंद्रियांच्या विषयांचेच चिंतन करत राहतो, तो मिथ्याचारी म्हणजेच ढोंगी आणि कपटी आहे
६. [म्हणून केवळ बाह्यदृष्ट्या संन्यास घेऊन] जी मूर्ख व्यक्ती कर्मेंद्रिये हट्टाने आवरून धरते पण मनातून त्या इंद्रियांच्या विषयांचे चिंतन करत राहते, ती मिथ्याचारी अर्थात ढोंगी आणि कपटी आहे.

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥7॥
7। किन्तु हे अर्जुन, इसकी अपेक्षा जो व्यक्ति मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त रहता हुआ बाहरी तौर पर कर्म-इन्द्रियों से कर्मयोग के लिए प्रयास करता है, वह अति श्रेष्ठ है।
7। पण हे अर्जुन, याउलट जी व्यक्ती मनाद्वारे आपल्या इंद्रियांना वश (नियंत्रित) करते आणि अनासक्त (फळाची आशा न ठेवता) राहून, बाहेरून कर्म-इंद्रियांद्वारे कर्मयोगाचे आचरण करण्याचा प्रयत्न करते, तीच सर्वोत्तम (अति श्रेष्ठ) व्यक्ती आहे.
७. पण, हे अर्जुन! याच्या उलट जो मनुष्य मनाने इंद्रियांना वश करून अनासक्त राहतो आणि बाह्यदृष्ट्या कर्मेंद्रियांनी कर्मयोगासाठी प्रयत्न करतो—तो अत्यंत श्रेष्ठ आहे.

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥8॥
8। [इसलिए] तुम शास्त्र द्वारा बताए संध्या-उपासना आदि नित्य कर्म अवश्य करो। [अशुद्ध-चित्त व्यक्ति के लिए] कर्म न करने से कर्म करना ही अच्छा है। क्योंकि बिना कर्म किये तो तुम्हारे शरीर का निर्वाह भी नहीं हो सकता।
८. [म्हणून] तू शास्त्रात सांगितलेली संध्या-उपासना इत्यादी नित्यकर्मे अवश्य कर. [अशुद्ध-चित्त व्यक्तीसाठी] कर्म न करण्यापेक्षा कर्म करणे हेच चांगले आहे, कारण कर्म

केल्यावाचून तुझ्या शरीराचाही निर्वाह होऊ शकत नाही.

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥9॥
9। [लेकिन ‘कर्म’ के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि,] यज्ञपुरुष श्रीविष्णु के लिए किये हुए निष्काम कर्मों के अतिरिक्त दूसरे सब कर्म बंधन में डालने वाले होते हैं। इसलिए हे कौन्तेय! तुम फल की आसक्ति को छोड़कर उन भगवान् श्रीविष्णु के उद्देश्य से भलिभाँति कर्म करते रहो।
९. [पण ‘कर्मा’च्या संबंधात एक विशेष गोष्ट ही आहे की,] यज्ञपुरुष श्रीविष्णूंसाठी केलेल्या निष्काम कर्मांव्यतिरिक्त इतर सर्व कर्मे बंधनात टाकणारी असतात. म्हणून हे कौंतेय! तू फळाच्या आसक्तीचा त्याग करून त्या भगवान श्रीविष्णूंच्या उद्देशाने चांगल्या प्रकारे कर्म करत राहा.

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥10॥
10। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ
के द्वारा देवता-मनुष्य आदि प्रजाओं की सृष्टि करके कहा कि इस यज्ञ से तुम फूलो-फलो, यह यज्ञ तुम्हारी सब कामनाएँ पूरी करेगा।
१०. सृष्टीच्या प्रारंभी प्रजापती ब्रह्मदेवांनी यज्ञाद्वारे देव, मनुष्य इत्यादी प्रजांची सृष्टी निर्माण करून सांगितले की, या यज्ञाने तुम्ही वृद्धिंगत व्हा, हा यज्ञ तुमच्या सर्व इच्छा पूर्ण करील.
१०. सृष्टीच्या प्रारंभी प्रजापती ब्रह्मदेवांनी यज्ञाद्वारे देवता, मनुष्य इत्यादी प्रजांची निर्मिती करून सांगितले—“या यज्ञामुळे तुम्ही फुला-फळा; हा यज्ञ तुमच्या सर्व कामना पूर्ण करील.”

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥11॥
11। इस यज्ञ से तुम लोग देवताओं को [यज्ञ का हविः प्रदान कर] संतुष्ट करते रहो और वे देवता [फल प्रदान करके] तुम्हें संतुष्ट करें। इस तरह एक दूसरे को संतुष्ट करते

हुए तुम लोग परम कल्याण प्राप्त कर सकोगे।
११. या यज्ञाने तुम्ही देवतांना [यज्ञाचे हविः अर्थात वेदलक्षणा गाईच्या शुद्ध तुपाची आहुती अर्पण करून] संतुष्ट करत राहा आणि त्या देवता [फळ प्रदान करून] तुम्हाला संतुष्ट करतील. अशा रीतीने एकमेकांना संतुष्ट करत तुम्ही परमकल्याण प्राप्त करू शकाल.

इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥12॥
12। यज्ञ से संतुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग प्रदान करेंगे। देवताओं द्वारा दिये भोगों को जो मनुष्य इन देवताओं को अर्पण किये बिना केवल स्वयं भोगता है, वह निश्चित रूप से दण्ड-भागी चोर है।
१२. यज्ञाने संतुष्ट झालेल्या देवता तुम्हाला इच्छित भोग प्रदान करतील. पण देवतांनी दिलेले भोग त्यांना अर्पण न करता फक्त स्वतःच भोगणारा मनुष्य नक्कीच दंडाचा भागी, म्हणजेच चोर ठरतो.

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥13॥
13। यज्ञपुरुष श्रीविष्णु के अवशेष (उच्छिष्ट) भाग को ग्रहण करने वाले साधु सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। दूसरी ओर जो पापी लोग केवल अपना पेट पालने के लिए ही रसोई पकाते हैं, वे दुराचारी पाप को ही खाते हैं (अर्थात् उससे चित्त दूषित होता है)।
13. यज्ञपुरुष श्रीविष्णूंचा अवशेष (उच्छिष्ट) भाग ग्रहण करणारे साधू सर्व पापांपासून मुक्त होतात. दुसरीकडे जे पापी लोक फक्त आपले पोट भरण्यासाठीच स्वयंपाक करतात, ते दुराचारी जन पापच खातात (म्हणजे त्यामुळे मन दूषित होते).

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥14॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥15॥
14–15। [अब यज्ञ के सम्बन्ध में श्रवण करो,] अन्न के द्वारा [शुक्र-शोणित के माध्यम से] सभी प्राणियों का शरीर

उत्पन्न होता है। वह अन्न वर्षा से पैदा होता है, वर्षा यज्ञ से होती है, और यज्ञ की उत्पत्ति वैदिक कर्मों से होती है। वैदिक कर्म की उत्पत्ति ‘ब्रह्म’ (वेद) से होती है और वेद अक्षर-वस्तु अर्थात् अविनाशी परमेश्वर से उत्पन्न होता है। इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म को सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित (विराजमान) जानो।
१४–१५. [आता यज्ञासंबंधी श्रवण कर,] अन्नाद्वारे [शुक्र-शोणिताच्या माध्यमातून अर्थात पित्याचे शुक्राणू आणि मातेच्या रक्ताद्वारे] सर्व प्राण्यांची शरीरे उत्पन्न होतात. ते अन्न पावसाने निर्माण होते, पाऊस यज्ञाने होतो, आणि यज्ञाची उत्पत्ती वैदिक कर्मांपासून होते. वैदिक कर्माची उत्पत्ती ‘ब्रह्मापासून’ (वेदापासून) होते आणि वेद अक्षर-वस्तूपासून अर्थात अविनाशी परमेश्वरापासून उत्पन्न होतो. म्हणून सर्वव्यापक ब्रह्माला सदैव यज्ञात प्रतिष्ठित (विराजमान) जाण.

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः। अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥16॥
16। हे पार्थ! यह है परमेश्वर द्वारा प्रवर्त्तित ‘कर्मचक्र’; जो व्यक्ति इस चक्र के अधीन यज्ञ-व्यवस्था रूपी धर्म का पालन नहीं करता, वह पापी इन्द्रियों के भोगों में व्यर्थ ही जीता है।
१६. हे पार्थ! हे आहे परमेश्वराने प्रवर्तित केलेले ‘कर्मचक्र’; जी व्यक्ती या चक्राच्या अधीन असलेल्या यज्ञव्यवस्थारूपी धर्माचे पालन करत नाही, ती पापी व्यक्ती इंद्रियांच्या भोगांमध्ये व्यर्थच जगते.
१६. हे पार्थ! हे परमेश्वराने प्रवर्तित केलेले ‘कर्मचक्र’ आहे. जो मनुष्य या चक्राच्या अधीन यज्ञव्यवस्थारूपी धर्माचे पालन करत नाही, तो पापी इंद्रियांच्या भोगांत व्यर्थच जीवन घालवतो.

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥17॥
17। किन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करता (अर्थात् आत्माराम) है, आत्मानन्द में ही तृप्त रहता है और केवल आत्मविचार में ही संतुष्ट रहता है, उसके लिए कोई कर्त्तव्य

बाकी नहीं रहता।
१७. पण जो मनुष्य आत्म्यातच रमतो (म्हणजे जो आत्माराम आहे), आत्मानंदातच तृप्त राहतो आणि केवळ आत्मविचारातच संतुष्ट राहतो—त्याच्यासाठी कोणतेही कर्तव्य उरलेले नसते.

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥18॥
18। [क्योंकि] इस संसार में उस व्यक्ति को न तो कर्म करने से कोई पुण्य प्राप्त होता है और न ही कर्मों के न करने से कोई पाप लगता है; फिर किसी स्वार्थ के लिए दूसरे सब प्राणियों (देवता या मनुष्य) में से किसी की भी शरण नहीं लेनी पड़ती।
१८. [कारण] या संसारात त्या व्यक्तीला ना कर्म केल्याने काही पुण्य मिळते, ना कर्म न केल्याने काही पाप लागते. त्यामुळे तिला कोणत्याही स्वार्थासाठी इतर प्राणी (देवता किंवा मनुष्य) यांच्यापैकी कुणाचीही शरण घ्यावी लागत नाही.

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥19॥
19। इसलिए [उस स्थिति तक पहुँचने के लिए] तुम कर्मफल में अनासक्त रहते हुए सदा शास्त्रों में वर्णित कर्म करते रहो। इस प्रकार आसक्ति छोड़कर कर्म करने वाले व्यक्ति को शरीर से परे आत्मा की अनुभूति प्राप्त होती है।
१९. म्हणून [त्या स्थितीपर्यंत पोहोचण्यासाठी] तू कर्मफलात अनासक्त राहून नेहमी शास्त्रात वर्णिलेली कर्मे करत राहा. अशा रीतीने आसक्ती सोडून कर्म करणाऱ्या व्यक्तीला शरीरापलीकडील आत्म्याची अनुभूती प्राप्त होते.

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्त्तुमर्हसि॥201
20। महाराज जनक आदि महात्माओं ने भी इस प्रकार कर्म से
ही आत्मानुभव रूपी सिद्धि पायी थी। उसी तरह लोगों को शिक्षा देने की भावना से ही तुम्हें कर्म करना चाहिए।
२०. महाराज जनक व इतर महात्म्यांनीही अशा प्रकारे कर्म करूनच आत्मानुभवरूपी सिद्धी प्राप्त केली होती.

त्याचप्रमाणे लोकांना शिक्षण देण्याच्या भावनेनेच तुला कर्म केले पाहिजे.

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥21॥
21। [क्योंकि] श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करता है,
दूसरे लोग भी वैसा ही करते हैं। वह जो कुछ करता है, वही प्रमाणिक होता है— लोग उसके दिखाए आदर्श के अनुसार ही चलते हैं।
२१. [कारण] श्रेष्ठ व्यक्ती जसे आचरण करते, तसेच इतर लोकही करतात. ती जे काही करते, तेच प्रमाणिक ठरते—लोक तिने दाखवलेल्या आदर्शानुसारच चालतात.

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि॥22॥
22। [इसलिए] हे पार्थ! भले ही तीनों लोकों में न मेरा
कुछ कर्त्तव्य है और न ही मेरे लिए कोई वस्तु अप्राप्त है या प्राप्त करने योग्य रह गई है, तो भी मैं कर्म करता रहता हूँ।
२२. म्हणून, हे पार्थ! जरी मला तीनही लोकांत काही कर्तव्य नाही, आणि माझ्यासाठी कोणतीही वस्तू अप्राप्त नाही म्हणजेच प्राप्त करण्याजोगी उरलेली नाही, तरीही मी कर्म करत राहतो.

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥23॥
23। यदि मैं सावधानीपूर्वक शास्त्र में बताए कर्म न करता रहूँ तो हे अर्जुन, लोग सब प्रकार मेरे ही मार्ग पर चलने लग जायेंगे। (अर्थात् मेरे कर्म न करने पर वे भी कर्म करना छोड़ देंगे)।
२३. जर मी सावधगिरीने शास्त्रात सांगितलेले कर्म करत राहिलो नाही, तर हे अर्जुन, लोक सर्व प्रकारे माझ्याच मार्गाने चालू लागतील. (अर्थात मी कर्म केले नाही तर तेही कर्म करणे सोडून देतील).
२३. जर मी शास्त्रात सांगितलेली कर्मे सावधपणे करत राहिलो नाही, तर हे अर्जुन! लोक सर्व प्रकारे माझ्याच

मार्गावर चालू लागतील. (म्हणजे मी कर्म न केल्यास तेही कर्म करणे सोडून देतील.)

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥24॥
24। यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सारे लोग कर्म न करने के कारण भ्रष्ट हो जायेंगे। इससे सांकर्य (व्यभिचार) उत्पन्न होगा और प्रजाओं का अमंगल होगा। फलस्वरूप मैं सब व्यवस्था और मर्यादाओं को तोड़ने वाला तथा प्रजाओं के नाश का कारण बन जाऊँगा।
२४. जर मी कर्म केले नाही, तर हे सर्व लोक कर्म न केल्यामुळे भ्रष्ट होतील. त्यामुळे सांकर्य (व्यभिचार) उत्पन्न होईल आणि प्रजांचे अमंगल होईल. परिणामी मीच सर्व व्यवस्था व मर्यादा मोडणारा ठरेन आणि प्रजांच्या नाशाचा कारण बनेल.
24। जर मी कर्म केले नाही, तर हे सर्व लोक (माझे अनुकरण करून) कर्म न केल्यामुळे भ्रष्ट होतील. यामुळे समाजात सांकर्य (व्यभिचार) उत्पन्न होईल आणि प्रजाजनांचे अमंगल होईल. परिणामी, मी सर्व व्यवस्था आणि मर्यादा तोडणारा ठरेन तसेच प्रजाजनांच्या नाशाला कारणीभूत होईन.

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥25॥
25। [इसीलिए] हे भारत! जैसे अज्ञानी लोग कर्मों में आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसे ही विद्वान् व्यक्ति को चाहिए कि वह लोगों को शिक्षा देने की भावना से उन्हीं सब कर्मों में अनासक्त रहकर कर्म करता रहे।
२५. [म्हणून] हे भारत! जसे अज्ञानी लोक कर्मांमध्ये आसक्त होऊन कर्म करतात, तसेच विद्वान व्यक्तीने लोकांना शिकवण देण्याच्या भावनेने त्या सर्व कर्मांमध्ये अनासक्त राहून कर्म करत राहावे.

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्। योजयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥26॥
26। विद्वान् व्यक्ति को चाहिए कि कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानी लोगों की बुद्धि में कभी भी भ्रम पैदा न करे

(अर्थात् उनसे अधिकार के बाहर जाकर कर्म को त्यागकर ज्ञान का अभ्यास न कराये)। बल्कि विद्वान् व्यक्ति स्वयं सावधान (अनासक्त) रहकर सब कार्य भलिभाँति करता हुआ उनसे भी वैसा ही कराए।
२६. विद्वान व्यक्तीने कर्मांमध्ये आसक्ती असलेल्या अज्ञानी लोकांच्या बुद्धीत कधीही भ्रम निर्माण करू नये (म्हणजेच त्यांच्याकडून अधिकाराबाहेर जाऊन कर्माचा त्याग करवून ज्ञानाचा अभ्यास करवू नये). उलट विद्वान व्यक्तीने स्वतः सावध (अनासक्त) राहून सर्व कार्य चांगल्या प्रकारे करत त्यांच्याकडूनही तसेच करवून घ्यावे.

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥27॥
27। यद्यपि सब कर्म प्रकृति के गुणों (सत्व, रज, तम) द्वारा किये जा रहे हैं, परन्तु जड़-अहंकार से मोहित जीव यह मानता है कि ‘करने वाला मैं ही हूँ’।
२७. जरी सर्व कर्मे प्रकृतीच्या (सत्त्व, रज व तम या) गुणांद्वारे होत असली, तरी जड अहंकाराने मोहित झालेला जीव ‘मीच करणारा आहे’ असे मानतो.

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥28॥
28। किन्तु हे महाबाहो अर्जुन, प्रकृति के गुण और कर्म दोनों ही आत्मा से अलग हैं, जो इसे समझता है वह तत्त्वज्ञानी है; यह जानकर कि जड़ इन्द्रियाँ तो जड़ रूप-रस आदि में ही रत हैं [किन्तु मैं चिद्-वस्तु ‘आत्मा’ हूँ, इसलिए इन सबसे अलग हूँ]—वह इनमें आसक्त नहीं होता।
२८. परंतु हे महाबाहो अर्जुन, प्रकृतीचे गुण आणि कर्म दोन्हीही आत्म्याहून वेगळे आहेत, जो हे जाणतो तो तत्त्वज्ञानी आहे; जड इंद्रिये तर जड रूप-रस इत्यादीमध्येच रमाण आहेत [पण मी चिद्-वस्तू ‘आत्मा’ आहे, म्हणून या सर्वांहून वेगळा आहे]—हे जाणून तो त्यांच्यात आसक्त होत नाही.
२८. पण हे महाबाहो अर्जुन, प्रकृतीचे गुण आणि कर्म हे दोन्ही आत्म्यापासून वेगळे आहेत. जो हे जाणतो तोच तत्त्वज्ञानी आहे. तो हे समजतो की जड इंद्रिये जड रूप-रस

इत्यादींमध्येच रत असतात, पण मी चिद्-वस्तू आत्मा आहे— म्हणून मी त्यांच्यापासून वेगळा आहे. त्यामुळे तो त्यांच्यात आसक्त होत नाही.

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु। तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥29॥
29। प्रकृति के गुणों से बहके हुए जीव गुणों और कर्मों में आसक्त रहते हैं। किन्तु जिन्हें इस सब की जानकारी है, वे उन कम बुद्धि वाले अज्ञानियों को भ्रमित करके विचलित न करें।
२९. प्रकृतीच्या गुणांनी भरकटलेले जीव गुण आणि कर्मांमध्ये आसक्त राहतात. परंतु ज्यांना या सर्वांची माहिती आहे, त्यांनी त्या अल्पबुद्धी असलेल्या अज्ञानी लोकांना भ्रमित करून विचलित करू नये.
२९. प्रकृतीच्या गुणांनी बहकलेले जीव गुण आणि कर्म यांत आसक्त राहतात. पण ज्यांना याचे ज्ञान आहे त्यांनी अल्पबुद्धी अज्ञानी व्यक्तींना भ्रमित करून विचलित करू नये.
29। प्रकृतीच्या गुणांनी संमोहित झालेले (भ्रमिष्ट झालेले) जीव गुण आणि कर्मांमध्ये आसक्त राहतात. परंतु, ज्यांना या सर्व तत्त्वांचे पूर्ण ज्ञान आहे अशा ज्ञानी पुरुषांनी, त्या अल्पबुद्धी असलेल्या अज्ञानी लोकांच्या बुद्धीमध्ये गोंधळ निर्माण करून त्यांना विचलित करू नये.

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा। निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥30॥
30। [इसीलिए हे अर्जुन, तुम्हारे लिए उपदेश है कि,] तुम आत्मनिष्ठ चित्त से सब कर्मों को मेरे अर्पण कर दो। [‘प्रभु का आदेश है, केवल इसीलिए कर रहा हूँ’—इस विचार से] सब कामनाओं और ममता को छोड़कर शोक-रहित मन से युद्ध करो।
३०. [म्हणूनच हे अर्जुन, तुझ्यासाठी उपदेश आहे की,] तू आत्मनिष्ठ चित्ताने सर्व कर्मे मला अर्पण कर. [‘प्रभूंची आज्ञा आहे, केवळ म्हणूनच करत आहे’—या विचाराने] सर्व कामना आणि ममता सोडून शोक-रहित मनाने युद्ध कर.

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥31॥
31। [यह है ‘मुझमें अर्पित निष्काम कर्मयोग’] यही मेरा
मत है; जो मनुष्य सदा मेरे इस विचार के अनुसार चलता है, वह कर्म-बंधन से छूट जाता है। लेकिन जो लोग ऐसा करने में असमर्थ हैं और दोष न खोजकर इस विचार के प्रति श्रद्धा रखते हैं, वे भी कर्म के द्वारा मुक्ति प्राप्त करते हैं।
३१. [हा आहे ‘मला अर्पण केलेला निष्काम कर्मयोग’] हेच माझे मत आहे; जो मनुष्य नेहमी माझ्या या विचारानुसार वागतो, तो कर्म-बंधनातून मुक्त होतो. परंतु जे लोक असे करण्यास असमर्थ आहेत आणि दोष न शोधता या विचारावर श्रद्धा ठेवतात, तेही कर्माद्वारे मुक्ती प्राप्त करतात.
३१. [हा आहे ‘मला अर्पण केलेला निष्काम कर्मयोग’.] हेच माझे मत आहे; जो मनुष्य सदैव माझ्या या विचारानुसार वागतो, तो कर्मबंधनातून मुक्त होतो. परंतु जे लोक असे करण्यास असमर्थ आहेत आणि दोष न धुंडाळता या विचारावर श्रद्धा ठेवतात, ते सुद्धा कर्माद्वारे मुक्ती प्राप्त करतात.

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्। सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥32॥
32। [दूसरी ओर] जो लोग ईर्ष्या के कारण मेरे इस मत के अनुसार नहीं चलते, वे [जितना भी अपने आप को ज्ञानी मान लें, लेकिन असल में] सम्पूर्ण ज्ञान से शून्य उन मूर्खों को भ्रष्ट हुआ समझना।
३२. [दुसरीकडे] जे लोक ईर्ष्येच्या कारणास्तव माझ्या
या मतानुसार चालत नाहीत, ते [जितकेही स्वतःला ज्ञानी मानोत, पण वास्तवात] संपूर्ण ज्ञानाने शून्य असलेल्या त्या मूर्खांना भ्रष्ट झालेले समजावे.
३२. [दुसरीकडे] जे लोक ईर्षेमुळे माझ्या या मतानुसार वागत नाहीत, ते [स्वतःला कितीही ज्ञानी समजोत, पण खरे तर] संपूर्ण ज्ञानाने शून्य असलेल्या त्या मूर्खांना भ्रष्ट झालेले समजावे.

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥33॥
33। [यदि कहो कि आत्मज्ञान प्राप्त होने पर तो संन्यास ग्रहण करना चाहिए, कर्मयोग की आवश्यकता नहीं है तो सुनो,]

ज्ञानी व्यक्ति भी अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्म करता है। सभी प्राणी अपने कई जन्मों के अभ्यास से बने स्वभाव अनुसार रहते हैं। ऐसी दशा में अचानक इन्द्रिय-संयम (हठ) क्या करेगा? (अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति को भी निष्काम कर्मयोग का पालन करना चाहिए)।
३३. [जर म्हणशील की आत्मज्ञान प्राप्त झाल्यावर संन्यासच घेतला पाहिजे, कर्मयोगाची आवश्यकता नाही तर ऐक,] ज्ञानी व्यक्तीही आपल्या स्वभावानुसारच कर्म करते. सर्व प्राणी आपल्या अनेक जन्मांच्या अभ्यासाने बनलेल्या स्वभावानुसार वागतात. अशा स्थितीत अचानक इंद्रिय-संयम (हट्ट किंवा जबरदस्ती) काय करू शकेल? (म्हणजेच ज्ञानी व्यक्तीनेही निष्काम कर्मयोगाचे पालन केले पाहिजे).

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥34॥
34। [यदि कहो कि, विषयों को ग्रहण करने से उनके प्रति आसक्ति कैसे दूर होगी, तो सुनो,] प्रत्येक जड़ इन्द्रिय का अपने-अपने जड़ विषय के प्रति आसक्ति और द्वेष होता है। इसलिए इन दोनों के वश में मत आना क्योंकि ये आसक्ति और द्वेष व्यक्ति को पुरुषार्थ-साधन (कल्याण) के मार्ग से भ्रष्ट करते हैं।
३४. [जर म्हणशील की, विषय ग्रहण केल्याने त्यांच्याबद्दलची आसक्ती कशी दूर होईल, तर ऐक,] प्रत्येक जड इंद्रियाची आपापल्या जड विषयाबद्दल आसक्ती आणि द्वेष असतो. म्हणून या दोघांच्याही अधीन होऊ नकोस, कारण हे आसक्ती आणि द्वेषरूपी अनर्थ व्यक्तीला पुरुषार्थ-साधनाच्या (कल्याण-प्राप्तीच्या) मार्गापासून भ्रष्ट करतात.

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥35॥
35। [यदि कहो कि, आसक्ति और द्वेष रहित होकर युद्ध करना कठिन है लेकिन अहिंसा वृत्ति सुसाध्य है, तो सुनो,] पराये धर्म का पालन आसानी से किया जा सके एवं अपना धर्म भलिभाँति पालन न हो सके तो भी पर-धर्म की अपेक्षा अपने धर्म का पालन ही श्रेष्ठ है। अपने धर्म का पालन करते हुए मृत्यु भी कल्याणकारी है किन्तु पर-धर्म बड़ा भयानक होता है।

३५. [जर म्हणशील की आसक्ती व द्वेष सोडून युद्ध करणे कठीण आहे, पण अहिंसा वृत्ती सुसाध्य (सोपी) आहे, तर ऐक,] परधर्माचे पालन सहज करता येते आणि स्वधर्माचे पालन नीट होत नाही, तरीही परधर्मापेक्षा स्वधर्माचे पालन श्रेष्ठ आहे. स्वधर्माचे पालन करताना मृत्यू आला तरी तो कल्याणकारी असतो; पण परधर्म फार भयानक ठरतो.

अर्जुन उवाच—
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापञ्चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥36॥
36। अर्जुन ने कहा—अतः हे वार्ष्णेय! [आसक्ति और द्वेष के वशीभूत होने के लिए मना किया है लेकिन देखा जाता है कि] मनुष्य न चाहता हुआ भी जबरदस्ती पाप करता है। इसलिए प्रश्न है कि किसके द्वारा प्रेरित होकर जीव पाप करता है?
३६. अर्जुन म्हणाला—म्हणूनच हे वार्ष्णेय! [आसक्ती आणि द्वेषाच्या वश होऊ नको असे सांगितले आहे, पण दिसते की] मनुष्य नको असतानाही जबरदस्तीने पाप करतो. म्हणून प्रश्न आहे की कोणाच्या प्रेरणेने जीव पाप करतो?
३६. अर्जुन म्हणाला—म्हणून हे वार्ष्णेय! [आसक्ती आणि द्वेषाच्या अधीन होण्यास मनाई केली आहे, परंतु असे दिसून येते की] मनुष्य नको असूनही जबरदस्तीने पाप करतो. म्हणून प्रश्न आहे की कोणाच्या प्रेरणेने जीव पाप करतो?

श्रीभगवानुवाच—
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥37॥
37। श्रीभगवान् ने कहा,—रजोगुण से पैदा हुआ यह काम (वासना) और क्रोध; (कामना पूरी होने में बाधा आने पर यह काम ही तमोगुण का आश्रय लेकर क्रोध का रूप धारण कर लेता है)। यह काम सर्वभक्षी है (अर्थात् कभी तृप्त नहीं होता) और महापाप करवाने वाला है। पुरुषार्थ साधन के मार्ग में इसी को तुम प्रधान शत्रु समझना।
३७. श्रीभगवान म्हणाले,—रजोगुणापासून उत्पन्न झालेला
हा काम (वासना) आणि क्रोध; (कामना पूर्ण होण्यात अडथळा आल्यावर हाच काम तमोगुणाचा आश्रय घेऊन क्रोधाचे रूप धारण करतो). हा काम सर्वभक्षी आहे (अर्थात कधीही तृप्त होत नाही)

आणि महापाप घडवून आणणारा आहे. पुरुषार्थ साधनेच्या मार्गात यालाच तू मुख्य शत्रू समज.

धूमेनाव्रियते वहिर्यथादर्शो मलेन च। यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥38॥
38। [यह काम कई प्रकार का है,] जिस प्रकार धुएँ से अग्नि
और धूल से दर्पण ढका रहता है, और जैसे जरायु से गर्भ छिपा रहता है, उसी प्रकार इस काम के द्वारा जीवचैतन्य शिथिल रूप से, गाढ़ रूप से और अति गाढ़ रूप से ढका रहता है (अर्थात् काम की गाढ़ता के अनुसार बद्धजीव में ज्ञान ढका रहता है)।
३८. [हा काम अनेक प्रकारचा आहे,] ज्याप्रमाणे धुराने अग्नी आणि धुळीने आरसा झाकलेला असतो, आणि जसे वाराने (म्हणजेच जरायू किंवा गर्भाशयाने) गर्भ झाकलेला असतो, त्याचप्रमाणे या कामाद्वारे जीवचैतन्य शिथिल रूपाने, गाढ रूपाने आणि अतिगाढ रूपाने झाकलेले असते (म्हणजेच कामाच्या तीव्रतेनुसार बद्ध जीवामध्ये ज्ञान झाकलेले असते).

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥39॥
39। हे कौन्तेय! जैसे अग्नि की भूख को कभी शान्त नहीं किया जा सकता, उसी तरह यह काम ऐसी अग्नि है जो कभी तृप्त नहीं होती। इस काम के द्वारा जीवों का ज्ञान ढका रहता है। ज्ञानियों के लिए यह काम चिर-शत्रु के समान है (अर्थात् काम के संबंध में ज्ञानी हमेशा सावधान रहते हैं किन्तु अज्ञानी जीव सदा असावधान)।
३९. हे कौंतेय! ज्याप्रमाणे अग्नीची भूक कधीच शमवता येत नाही, त्याचप्रमाणे हा काम अशी आग आहे जी कधी तृप्त होत नाही. या कामाद्वारे जीवांचे ज्ञान झाकलेले असते. ज्ञानी लोकांसाठी हा काम चिर-शत्रूसारखा आहे (म्हणजेच कामाच्या बाबतीत ज्ञानी नेहमी सावध असतात, परंतु अज्ञानी जीव नेहमी असावध असतात).

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥40॥
40। स्थूल शरीर में इन्द्रियाँ एवं सूक्ष्म शरीर में
मन और बुद्धि इस काम के रहने के स्थान बताये गए हैं। इन्हीं

के आश्रय से धर्म-अधर्म के ज्ञान पर परदा डालकर यह काम जीव को भ्रमित करता है (अर्थात् इसी प्रकार जीव पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है)।
४०. स्थूल शरीरात इंद्रिये आणि सूक्ष्म शरीरात मन व बुद्धी—ही कामाची निवासस्थाने सांगितली आहेत. यांच्याच आधाराने धर्म-अधर्माच्या ज्ञानावर पडदा टाकून हा काम जीवाला भ्रमित करतो (म्हणजे अशा प्रकारे जीव पापकर्मांकडे प्रवृत्त होतो).

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥41॥
41। इसलिए हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! तुम पहले इन्द्रियों
को वश में करके ज्ञान-विज्ञान का नाश करने वाले इस महापापी काम को मारो।
४१. म्हणून हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, तू प्रथम इंद्रियांना वश करून घे; आणि ज्ञान-विज्ञानाचा नाश करणाऱ्या या महापापी कामाचा संहार कर.

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेर्यः परतस्तु सः॥42॥
42। [आत्म-अनुशीलन के द्वारा कैसे काम का नाश होता है,
वह सुनो] शरीर में इन्द्रियों को श्रेष्ठ कहा जाता है, सभी इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और जो बुद्धि से भी श्रेष्ठ है, वह आत्मा है।
४२. [आत्म-अनुशीलनाने कामाचा नाश कसा होतो ते ऐक.] शरीरात इंद्रियांना श्रेष्ठ म्हटले आहे; सर्व इंद्रियांपेक्षा मन श्रेष्ठ आहे; मनापेक्षा बुद्धी श्रेष्ठ आहे; आणि बुद्धीपेक्षाही जो श्रेष्ठ आहे, तो आत्मा आहे.

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥43॥
43। इस प्रकार आत्मा को बुद्धि से श्रेष्ठ जानकर, (अर्थात् आत्मा—जड़ इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि से परे है इसलिए स्वरूपतः भगवान् से सम्बन्धित अप्राकृत चिद्-वस्तु है, इसे समझकर) आत्मतत्त्व के विचार से अपने आप को स्थिर

करके अर्थात् अपने आप को भगवान् का दास रूप श्रेष्ठ तत्त्व जानकर मन को वश में करके तुम इस काम रूपी दुर्जय शत्रु का नाश करो।
४३. अशा प्रकारे आत्मा बुद्धीपेक्षा श्रेष्ठ आहे हे जाणून—म्हणजे आत्मा जड इंद्रिये, मन, बुद्धी यांच्यापलीकडे असून स्वरूपतः भगवंतांशी संबंधित अप्राकृत चिद्-वस्तू आहे हे समजून—आत्मतत्त्वाच्या विचाराने स्वतःला स्थिर करून, म्हणजे स्वतःला भगवानांचा दासरूप श्रेष्ठ-तत्त्व मानून, मनाला वश करून तू या कामरूपी दुर्जय शत्रूचा नाश कर.

इति ‘कर्मयोगो’ नाम तृतीयोऽध्यायः।
इति तृतीय अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
इति तृतीय (तिसऱ्या) अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.

चतुर्थोऽध्यायः
ज्ञानयोगः
श्रीभगवानुवाच—
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥1॥
1। श्रीभगवान् ने कहा,—कभी नष्ट न होने वाले इस योग का मैंने पहले सृष्टि के प्रारम्भ में विवस्वान् (सूर्य) को उपदेश दिया था। उसने अपने पुत्र मनु को इसका उपदेश दिया और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को इसकी शिक्षा दी।
१. श्रीभगवान म्हणाले,—कधीही नष्ट न होणाऱ्या या योगाचा मी सृष्टीच्या आरंभी विवस्वान (सूर्य) याला उपदेश केला होता. त्याने आपला पुत्र मनू याला याचा उपदेश दिला आणि मनूने आपला पुत्र इक्ष्वाकु याला याची शिकवण दिली.
१. श्रीभगवान म्हणाले—या कधीही नष्ट न होणाऱ्या योगाचा मी सृष्टीच्या प्रारंभी विवस्वान (सूर्यदेव) याला उपदेश केला होता. विवस्वानाने तो आपल्या पुत्र मनूस सांगितला आणि मनूने आपला पुत्र इक्ष्वाकूला तो शिकविला.
1। श्रीभगवान म्हणाले,—कधीही नष्ट न होणाऱ्या या योगाचा मी सृष्टीच्या आरंभी विवस्वान (सूर्य) याला उपदेश केला होता. त्याने आपला पुत्र मनू याला त्याचा उपदेश दिला आणि मनुने आपला पुत्र इक्ष्वाकु याला याची शिकवण दिली.

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥2॥
2। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों
ने जाना। किन्तु हे परन्तप! यह योग बहुत समय बीतने पर इस लोक से नष्ट-सा हो गया।
२. या प्रकारे परंपरेने मिळत आलेला हा योग राजर्षींनी जाणला होता. पण हे परंतप अर्जुन! कालांतराने हा योग या लोकातून जणू नष्टच झाला.
2। अशा प्रकारे परंपरेने प्राप्त झालेला हा योग राजर्षींनी जाणला. परंतु हे परंतप! पुष्कळ काळ लोटल्याने हा योग या लोकातून नष्टप्राय झाला.

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥3॥
3। यह वही प्राचीन योग है, जो आज मैंने तुम्हें बताया है। तुम मेरे भक्त और सखा भी हो, इसीलिए तुम्हें यह बताया है, [दूसरों को नहीं, क्योंकि] यह उत्तम रहस्य है।
3। हाच तो प्राचीन योग आहे, जो आज मी तुला सांगितला आहे.
तू माझा भक्त आणि सखाही आहेस, म्हणूनच तुला हा सांगितला आहे, [इतरांना नाही, कारण] हे उत्तम रहस्य आहे.

अर्जुन उवाच—
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः। कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥4॥

4। अर्जुन ने कहा,—हे केशव आपका जन्म तो अभी हुआ है, सूर्य का जन्म सृष्टि के प्रारम्भ में हुआ था। इसलिए इस बात पर कैसे विश्वास करूँ कि इस योग को सृष्टि के प्रारम्भ में पहले आपने सूर्य को कहा था? (अर्थात् साधारण मूर्ख लोग आपकी इन बातों पर अविश्वास करके अपराध न कर बैठें, इसीलिए मैं उनकी ओर से पूछ रहा हूँ)।
४. अर्जुन म्हणाला—हे केशव, आपला जन्म तर आत्ताच झाला आहे, आणि सूर्याचा जन्म सृष्टीच्या प्रारंभी झाला होता. मग आपण सृष्टीच्या प्रारंभी सूर्याला हा योग सांगितला होता, यावर मी कसा विश्वास ठेवू? (अर्थात, सामान्य अज्ञानी लोक आपल्या या वाक्यांवर अविश्वास करून अपराध करू नयेत म्हणून मी त्यांच्या वतीने हे विचारत आहे.)
4। अर्जुन म्हणाला,—हे केशव, आपला जन्म तर आत्ताच झाला आहे, सूर्याचा जन्म सृष्टीच्या आरंभी झाला होता. त्यामुळे या गोष्टीवर कसा विश्वास ठेवू की या योगाबद्दल सृष्टीच्या आरंभी आपणच प्रथम सूर्याला सांगितले होते? (अर्थात सामान्य अज्ञानी लोक आपल्या या बोलण्यावर अविश्वास करून अपराध करून बसू नयेत, म्हणूनच मी त्यांच्यावतीने विचारत आहे).

श्रीभगवानुवाच—
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥5॥
5। श्रीभगवान् ने कहा,—हे परन्तप अर्जुन! मेरे और तुम्हारे [इस प्रकार एकसाथ] बहुत से जन्म हो चुके हैं। मैं [परमेश्वर होने के कारण] उन सब जन्मों को जानता हूँ, किन्तु तुम [अणु चैतन्य जीव होने के कारण] उन्हें नहीं जानते हो।
5। श्रीभगवान म्हणाले,—हे परंतप अर्जुन! माझे आणि तुझे [अशा प्रकारे एकत्र] पुष्कळ जन्म होऊन गेले आहेत. मी [परमेश्वर असल्यामुळे] त्या सर्व जन्मांना जाणतो, परंतु तू [अणुचैतन्य जीव असल्यामुळे] त्यांना जाणत नाहीस.
५. श्रीभगवान म्हणाले—हे परंतप अर्जुन, माझे आणि तुझे अशा प्रकारे एकत्र अनेक जन्म झाले आहेत. मी परमेश्वर असल्यामुळे मला ते सर्व जन्म ज्ञात आहेत; पण तू अणुचैतन्य जीव असल्यामुळे तुला ते ज्ञात नाहीत.

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥6॥
6। [सबसे पहले वर्णन करता हूँ कि मैं कौन हूँ,] मैं अजन्मा, अनश्वर स्वयं आत्म-स्वरूप हूँ (अर्थात् मुझमें देह-देही का भेद नहीं है)। मैं सब प्राणियों का ईश्वर अर्थात् स्वामी होते हुए भी अपनी प्रकृति (अर्थात् अपने नित्यसिद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप) को अवलम्बन करके अपनी ही योगमाया से जगत में अवतरित होता हूँ।
6। [सर्वप्रथम मी कोण आहे ते सांगतो,] मी अजन्मा, अविनाशी स्वयं आत्मस्वरूप आहे (अर्थात माझ्यात देह आणि देही असा भेद नाही). मी सर्व प्राणिमात्रांचा ईश्वर अर्थात स्वामी असूनही माझ्या प्रकृतीचा (अर्थात माझ्या नित्यसिद्ध सच्चिदानंद स्वरूपाचा) अवलंब करून माझ्याच योगमायेने जगात अवतरित होतो.

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥7॥
7। हे भारत, जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ने लगता है, तब-तब मैं अपनी इच्छा से अपने नित्यसिद्ध देह को प्रकट करता हूँ। (अर्थात् मैं स्वयं ही अपना स्रष्टा हूँ— मेरा कोई स्रष्टा नहीं है; ‘शून्य’ या ‘निराकार’-ब्रह्म मेरा स्रष्टा नहीं है)।
७. हे भारत, जेव्हा-जेव्हा धर्माची हानी होते आणि अधर्म वाढू लागतो, तेव्हा-तेव्हा मी माझ्या इच्छेने माझा नित्यसिद्ध देह प्रकट करतो. (म्हणजे मी स्वतःच माझा स्रष्टा आहे—माझा कोणताही स्रष्टा नाही; ‘शून्य’ किंवा ‘निराकार’ ब्रह्म माझा स्रष्टा नाही.)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥8॥
8। मेरे प्रति पूर्ण शरणागत साधुओं को मेरे दर्शन न होने से जो दुःख होता है, उससे रक्षा करने के लिए और जो सब दुष्ट दूसरों के द्वारा नहीं मारे जा सकते, उनके नाश और शुद्ध-भक्तियोग रूपी आत्मधर्म की स्थापना के लिए मैं युग-युग में अवतरित होता हूँ।
८. माझ्या चरणी पूर्णपणे शरण आलेल्या साधू-संतांना माझे दर्शन न झाल्यामुळे जे दुःख होते, त्या दुःखापासून त्यांचे रक्षण करण्यासाठी; आणि ज्या दुष्टांना इतर कोणाद्वारेही मारले जाऊ शकत नाही, अशा दुष्टांचा नाश करण्यासाठी तसेच शुद्ध-भक्तियोगरूपी आत्मधर्माची स्थापना करण्यासाठी मी युगायुगात अवतार घेतो.
८. माझ्या दर्शनाचा अभाव झाल्यामुळे माझ्याप्रति पूर्ण शरणागत असलेल्या साधूंना जे दुःख होते, त्यापासून त्यांचे रक्षण करण्यासाठी, तसेच जे दुष्ट लोक इतर कोणाच्याही हातून मारले जाऊ शकत नाहीत, त्यांचा नाश करण्यासाठी आणि शुद्ध-भक्तियोगरूप आत्मधर्माची स्थापना करण्यासाठी मी युगानुयुगे अवतार घेतो.

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥9॥
9। हे अर्जुन, मेरे जन्म और कर्म दोनों ही दिव्य (अप्राकृत) हैं, जो व्यक्ति शास्त्रों के आधार पर इस बात को ठीक-ठीक जानता है, वह देह त्यागने के बाद फिर जन्म नहीं लेता, बल्कि मुझ नित्य सच्चिदानन्द विग्रह परब्रह्म को ही प्राप्त करता है।
9। हे अर्जुन, माझे जन्म आणि कर्म दोन्हींही दिव्य (अप्राकृत) आहेत, जी व्यक्ती शास्त्रांच्या आधारावर हे तथ्य नीट जाणते, ती व्यक्ती देहाचा त्याग केल्यानंतर परत जन्म घेत नाही, किंबहुना मज नित्य-सच्चिदानन्द-विग्रह परब्रह्मालाच प्राप्त करते.
9। हे अर्जुन, माझे जन्म आणि कर्म दोन्हींही दिव्य (अप्राकृत) आहेत, जी व्यक्ती शास्त्रांच्या आधारावर हे तथ्य नीट जाणते, ती व्यक्ती देहाचा त्याग केल्यानंतर परत जन्म घेत नाही, किंबहुना मला अर्थात नित्य सच्चिदानन्द-विग्रह परब्रह्मालाच प्राप्त करते.

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥10॥
10। [केवल अभी नहीं, पहले भी] जड़ आसक्ति, भय और क्रोध
को छोड़कर मेरे अनन्य आश्रित बहुत से व्यक्ति मेरी शरण में आ चुके हैं। और मेरे नाम-रूप-लीला आदि की नित्यता का ज्ञान और उसके अनुभव रूपी तपस्या से पवित्र होकर मेरे प्रति विशुद्ध प्रेम प्राप्त कर चुके हैं, (अर्थात् मुझको केन्द्रित करके प्रत्येक युग में साधन-भजन विद्यमान है)।
10। [केवळ आत्ताच नाही, पूर्वी सुद्धा] जड (भौतिक) आसक्ती, भय आणि क्रोध यांचा त्याग करून माझा अनन्य आश्रय घेणाऱ्या अनेक व्यक्ती मला शरण आल्या आहेत. आणि माझे नाम, रूप, लीला इत्यादीच्या नित्यतेचे ज्ञान आणि त्याच्या अनुभवरूपी तपस्येने पवित्र होऊन त्यांनी माझ्याप्रति विशुद्ध प्रेम प्राप्त केले आहे, (अर्थात मला केन्द्रित करून प्रत्येक युगात साधन-भजन विद्यमान आहे).
१०। [केवळ आत्ताच नाही, पूर्वीही] भौतिक (जड) आसक्ती, भय आणि क्रोध यांचा त्याग करून माझा अनन्य आश्रय घेणाऱ्या अनेक व्यक्ती मला शरण आल्या आहेत. माझे नाम, रूप, लीला इत्यादीच्या नित्यतेचे ज्ञान आणि त्याच्या अनुभवरूपी तपस्येने पवित्र होऊन त्यांनी माझ्याप्रति विशुद्ध प्रेम प्राप्त केले आहे. (म्हणजेच प्रत्येक युगात माझ्यावर केंद्रित साधन-भजन विद्यमान आहे.)

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥11॥
11। [सब साधक ऐसे प्रेम नहीं प्राप्त कर पाते, क्योंकि]
जो जिस भाव से मुझको भजता है (अर्थात् जिस उपाय से मेरी शरण ग्रहण करता है), मैं भी उसको वैसे ही भजता हूँ (अर्थात् साधन के अनुसार फल देता हूँ, सबको एक ही फल नहीं)। लोग हर तरह से मेरे ही विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं (अर्थात् जगत में जितने सब साधन है, जैसे भक्ति ही नहीं अपितु ज्ञान, कर्म, योग, तपस्या, त्याग, देव उपासना आदि विद्यमान हैं, सबका इच्छित फल मैं ही प्रदान करता हूँ)।
11। [सर्व साधक असे प्रेम प्राप्त करू शकत नाहीत, कारण]
जो ज्या भावाने माझे भजन करतो (अर्थात ज्या उपायाने मला शरण येतो), मी देखील त्याचे तसेच भजन करतो (अर्थात

साधनानुसार फळ प्रदान करतो, सर्वांना एकच फळ देत नाही). लोक प्रत्येक पद्धतीने माझ्याच विभिन्न मार्गांचे अनुसरण करतात (अर्थात जगात जेवढी सारी साधने आहेत, जशी भक्तीच नव्हे, तर ज्ञान, कर्म, योग, तपस्या, त्याग, देव-उपासना इत्यादी साधने सुद्धा विद्यमान आहेत, त्या सर्व साधनांचे इच्छित फळ मीच प्रदान करतो).

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥12॥
12। [अब पूर्व प्रसंग के अनुसार पुनः कर्म का विचार बता रहा हूँ, सुनो] इस मनुष्य लोक में कर्मों के फल को चाहने वाले लोग देवताओं की उपासना करते हैं क्योंकि इससे उनके कर्मों से उत्पन्न हुआ फल उन्हें जल्दी ही मिल जाता है, (अर्थात् अधिकांश लोग सकाम हैं और देवताओं की उपासना करने वाले हैं, लेकिन मुझे अर्पित निष्काम कर्मयोग करने वाले विरल हैं)।
१२। [आता पूर्वप्रसंगानुसार पुन्हा कर्माचा विचार सांगतो, ऐक] या मनुष्यलोकात कर्मांचे फळ इच्छिणारे लोक देवतांची उपासना करतात, कारण यामुळे त्यांच्या कर्मांमुळे उत्पन्न झालेले फळ त्यांना लवकर मिळते. (म्हणजेच बहुतेक लोक सकाम असून देवतांची उपासना करणारे आहेत; पण मला अर्पण केलेल्या निष्काम कर्मयोगाचे अनुष्ठान करणारे साधक अत्यंत विरळ अर्थात दुर्लभ आहेत).

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्॥13॥
13। मैंने गुण और कर्म के भेद से ब्राह्मण आदि चारों वर्णों की सृष्टि की है। इस कार्य का कर्त्ता होने पर भी तुम मुझे ‘अकर्त्ता’ (कर्म द्वारा अस्पृश्य) और अविनाशी जानो।
१३। मी गुण आणि कर्म यांच्या भेदाने ब्राह्मण इत्यादी चार वर्णांचे सृजन केले आहे. या कार्याचा कर्ता असूनही तू मला ‘अकर्ता’ व अविनाशी म्हणून जाण. (मी अकर्त्ता आहे म्हणजेच मी कर्माद्वारे अस्पृश्य आहे. कर्म मला स्पर्श करू शकत नाही. मी अविनाशी आहे म्हणजेच माझा कधीही विनाश होऊ शकत नाही).

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥14॥
14। मैं विश्व-सृजन आदि सब कर्मों में कभी लिप्त नहीं होता क्योंकि उनके फल की मुझे कोई इच्छा नहीं है। जो मेरे तत्त्व को इस प्रकार भलिभाँति जान लेता है, उसे भी (मेरी कृपा से) कर्म नहीं बाँध सकते (अर्थात् जो लोग मुझे कर्म या कर्मफल के अधीन मानते हैं, वे उस दोष के कारण कर्म द्वारा बंधे ही रहते हैं)।
१४। मी विश्व-सृजन (विश्वसृष्टी) संबंधी सर्व कर्मांमध्ये कधीही लिप्त होत नाही, कारण त्यांच्या फळाची मला काहीही इच्छा नाही. जो माझे तत्त्व अशा प्रकारे नीट जाणतो, त्याला देखील (माझ्या कृपेने) कर्म बांधू शकत नाहीत. (म्हणजे जे लोक मला कर्म किंवा कर्मफलाच्या अधीन मानतात, ते त्या दोषामुळे कर्मबंधनातच अडकून राहतात).

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥15॥
15। प्राचीन काल में जिन्होंने मोक्ष पाने का प्रयास किया था, उन्होंने भी इस तत्त्व को समझने के बाद सकाम कर्म को पूरी तरह त्यागकर मुझमें अर्पित निष्काम कर्म का अनुष्ठान किया था। इसलिए तुम भी प्राचीन महाजनों की तरह ही उस निष्काम कर्मयोग का आश्रय लो।
१५। प्राचीन काळी ज्यांनी मोक्षप्राप्तीचा प्रयत्न केला होता, त्यांनीही हे तत्त्व जाणून सकाम कर्माचा पूर्णतः त्याग करून मला अर्पण केलेल्या निष्काम कर्माचेच अनुष्ठान केले होते. म्हणून तूही प्राचीन थोर संत (महाजन) पुरुषांप्रमाणे त्या निष्काम कर्मयोगाचाच आश्रय घे.

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
16॥
16। किसे ‘कर्म’ और किसे ‘अकर्म’ कहते हैं—इसका निर्णय लेने में बड़े-बड़े विद्वान लोग भी भ्रम में पड़ जाते हैं, (अर्थात् कार्य मात्र ही ‘कर्म’ नहीं है और तात्कालिक दृष्टि से कार्य किए बिना रहना भी ‘अकर्म’ नहीं है)। इसलिए मैं उसी कर्म-तत्त्व का उपदेश तुम्हें देता हूँ जिसे जानकर

तुम सब प्रकार के अमंगलों से मुक्त हो जाओगे।
१६। ‘कर्म’ कशास म्हणावे आणि ‘अकर्म’ कशास म्हणावे— याचा निर्णय करतांना मोठमोठे विद्वान लोकही गोंधळतात. (म्हणजेच ‘केवळ कार्य करणे’ हेच ‘कर्म’ नव्हे आणि ‘तात्कालिक दृष्टिकोनातून कार्य न करता राहाणे’ हेच ‘अकर्म’ नव्हे.) म्हणून मी तुला त्या कर्मतत्त्वाचा उपदेश करतो, ज्याला जाणून तू सर्व प्रकारच्या अमंगलांपासून मुक्त होशील.

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥17॥
17। कर्म की गति बहुत गहरी है इसलिए यह जान लेना चाहिए
कि कर्म, अकर्म और विकर्म कर्म क्या हैं (जो सदाचार शास्त्र में वर्णित है उसे ‘कर्म’ कहते हैं। जिस आचरण को शास्त्र में निषिद्ध किया गया है, उसे ‘विकर्म’ कहते हैं। और शास्त्र में वर्णित कर्मों को न करना ‘अकर्म’ कहलाता है।)
१७। कर्माची गती अतिशय गहन आहे, म्हणून हे जाणून घेणे आवश्यक आहे की ‘कर्म’, ‘अकर्म’ आणि ‘विकर्म’ ही कर्मे काय आहेत. (शास्त्रात वर्णन केलेल्या सदाचाराचे पालन करण्यासच ‘कर्म’ असे म्हणतात. ज्या प्रकारचे आचरण शास्त्रात निषिद्ध म्हणून घोषित केले गेले आहे, त्यास ‘विकर्म’ असे म्हणतात. आणि शास्त्रात वर्णन केलेल्या कर्मांचे अनुशीलन न करण्यासच ‘अकर्म’ असे म्हणतात.)

कर्मण्यकर्म य: पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥18॥
18। जो निर्लिप्त भाव से कर्म में अकर्म देखता है (अर्थात् जिसने कर्मफल की इच्छा छोड़ दी है, ‘मैं कर रहा हूँ’ ऐसा अभिमान भी त्याग दिया है, कर्म और अकर्म उसके सामने एक ही रूप धारण करते हैं) एवं दूसरी ओर जो ‘अकर्म’ में कर्म देखता है (अर्थात् जो यह समझता है कि अशुद्ध हृदय वाले कपटी व्यक्ति का दिखावटी कर्म-त्याग असल में कर्म ही है), वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है। वह योगी सब कर्म करने वाला है (अर्थात् कर्म और अकर्म के सम्बन्ध में उसे किसी प्रकार का भ्रम नहीं होता, इसीलिए वह भलिभाँति सबकुछ करने में समर्थ है)।
१८। जो निर्लिप्त भावाने कर्मात अकर्म पाहतो (म्हणजे ज्याने कर्मफळाची इच्छा सोडली आहे, ‘मी करतो आहे’ असा अहंकारही त्यागला आहे—त्याच्यासाठी कर्म आणि अकर्म एकच रूप धारण करतात) आणि दुसरीकडे जो ‘अकर्मात कर्म’ पाहतो (म्हणजे अशुद्ध हृदय असलेल्या कपटी व्यक्तीचा दिखाऊ कर्मत्याग प्रत्यक्षात कर्मच आहे असे जो जाणतो), तो मनुष्यांमध्ये खरा बुद्धिमान आहे. तो योगी सर्व कर्म करणारा आहे (म्हणजे कर्म आणि अकर्म याबाबत त्याला कोणताही गोंधळ नसतो, म्हणून तो सर्व काही योग्य रीतीने करण्यास समर्थ असतो).

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥19॥
19। जो फल की इच्छा को छोड़कर सब कर्म करता है, [उसके वह
मन को शुद्ध करने वाले कर्म धीरे-धीरे ज्ञान का आकार ले लेते हैं, तब] उसी ज्ञान की अग्नि से उसके पिछले सारे कर्म भस्म हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति को ज्ञानी लोग आत्मज्ञ पण्डित कहते हैं।
१९। जो मनुष्य फळाची इच्छा सोडून सर्व कर्मे करतो, [त्याची ती मनशुद्धी करणारी कर्मे हळूहळू ज्ञानाचे रूप धारण करतात, आणि] त्या ज्ञानाच्या अग्नीने त्याची पूर्वीची सर्व कर्मे भस्म होतात. अशा व्यक्तीला ज्ञानी लोक आत्मज्ञ पंडित म्हणतात.

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥20॥
20। कर्मफल की इच्छा को छोड़कर जो सदा अपनी नित्य आत्मानुभूति में तृप्त रहता है—उसे इस संसार में किसी आश्रय की अपेक्षा नहीं रहती। वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता।
२०। जो मनुष्य कर्मफळाची इच्छा सोडून नेहमी आपल्या नित्य आत्मानुभूतीत तृप्त राहतो—त्याला या भौतिक जगात कोणत्याही आश्रयाची अपेक्षा राहत नाही. तो कर्म करीत असला तरी प्रत्यक्षात काहीच करीत नाही.

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥21॥
21। जिसने सब आशाओं को छोड़कर अपने मन को नियन्त्रित
कर लिया है, सब प्रकार के सांसारिक विषयों के प्रति ममता- रहित है, वह निष्काम व्यक्ति केवल शरीर की रक्षा के लिए कर्म करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता।
२१। ज्या व्यक्तीने सर्व आशा सोडून आपले मन नियंत्रित केले आहे, जी व्यक्ती सर्व सांसारिक विषयांबद्दल ममता-रहित आहे—ती निष्काम व्यक्ती केवळ शरीररक्षणासाठी कर्म करीत असली तरी पापाला प्राप्त होत नाही (म्हणजेच तिला पाप स्पर्श करत नाही).

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥22॥
22। बिना इच्छा के अपने आप जो कुछ प्राप्त हो उससे संतुष्ट, सुख-दुःख, मान-अपमान के संघर्ष और ईर्ष्या से रहित तथा सफलता और विफलता में एक जैसा रहने वाला पुरुष कर्म करने पर भी उससे नहीं बँधता।
२२। जो मनुष्य इच्छा न ठेवता आपोआप जे काही प्राप्त होते त्यात संतुष्ट राहतो, सुख-दुःख, मान-अपमान यांच्या संघर्षापासून तसेच ईर्ष्येपासून मुक्त असतो, आणि यश-अपयशात समान राहतो—तो पुरुष कर्म करीत असला तरी तो कर्मबंधनात फसत नाही.

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥23॥
23। जिसकी जड़ विषयों में आसक्ति नष्ट हो चुकी है, जो राग-द्वेष से मुक्त है, जिसका चित्त आत्मविषयक ज्ञान में स्थिर है और जो केवल यज्ञ के लिए कर्म करता है, उसके सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं (अर्थात् उन कर्मों से किसी जड़ीय कर्मफल की सृष्टि नहीं होती)।
२३। ज्याची भौतिक विषयांतील आसक्तीच नष्ट झाली आहे, जो राग (आकर्षण किंवा आवड-निवड) व द्वेषापासून मुक्त आहे, ज्याचे चित्त आत्मविषयक ज्ञानात स्थिर आहे आणि जो केवळ यज्ञासाठी कर्म करतो—त्याची सर्व कर्मे नष्ट होतात

(म्हणजे त्या कर्मांपासून कोणतेही जडीय अर्थात भौतिक कर्मफळ उत्पन्न होत नाही).

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥24॥
24। [यज्ञ रूपी कर्म से कैसे ज्ञान उत्पन्न होता है, वह यज्ञतत्त्व बता रहा हूँ, श्रवण करो। यज्ञ के पाँच अंग हैं— अर्पण, हविः, अग्नि, होता और फल]। ‘अर्पण’ अर्थात् जिसके द्वारा अर्पण किया जाता है, वह यज्ञ का चमचा (सुवा), मन्त्र आदि; ‘हविः’ अर्थात् घी आदि हवन की सामग्री; ‘अग्नि’ अर्थात् जिस हवन रूपी अग्नि में अर्पण किया जाता है; ‘होता’ अर्थात् यज्ञ करने वाला यजमान—ये सभी ब्रह्मात्मक हैं। और एकाग्र चित्त से की गई वह कर्म रूपी समाधि—ब्रह्म है; इसलिए उस यज्ञ के ‘फल’ रूप से ब्रह्म ही प्राप्त होता है।
२४। [यज्ञरूपी कर्मातून ज्ञान कसे उत्पन्न होते, ते यज्ञतत्त्व मी सांगतो, श्रवण कर. यज्ञाची पाच अंगे आहेत — ‘अर्पण’, ‘हविः’, ‘अग्नी’, ‘होता’ आणि ‘फळ’.] ‘अर्पण’ म्हणजे ज्याद्वारे आहुती अर्पण केली जाते तो यज्ञाचा चमचा (सुवा) आणि मंत्र इत्यादी; ‘हविः’ म्हणजे वेदलक्षणा गाईचे शुद्ध तूप इत्यादी हवनाची सामग्री; ‘अग्नि’ म्हणजे ज्यात अर्पण केले जाते ती हवनरूपी अग्नी; ‘होता’ म्हणजे यज्ञ करणारा यजमान—हे सर्व ब्रह्मात्मक आहेत. आणि एकाग्रचित्ताने केलेली ती कर्मरूपी समाधीही ब्रह्म आहे; म्हणून त्या यज्ञाच्या ‘फल’रूपाने ब्रह्मच प्राप्त होते.

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥25॥
25। [यज्ञ बहुत प्रकार के हैं,—] कर्मयोगी देवताओं के पूजन के लिए देव-यज्ञ करते हैं। और दूसरे जो सब ज्ञानयोगी हैं, वे ब्रह्म रूपी अग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ रूपी सब कर्मों की आहुति देते हैं।
25। [यज्ञ अनेक प्रकारचे आहेत,—] कर्मयोगी देवतांच्या पूजनासाठी देव-यज्ञ करतात. आणि दुसरे जे सर्व ज्ञानयोगी आहेत, ते ब्रह्मरूपी अग्नीत यज्ञाद्वारे यज्ञरूपी सर्व कर्मांची आहुती देतात.

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति। शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥26॥
26। और एक प्रकार के योगी हैं—नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वे संयम-रूपी अग्नि में इन्द्रियों का होम करते हैं। और कुछ दूसरे योगी (गृहस्थ) हैं, वे इन्द्रिय रूपी अग्नि में शब्द आदि विषयों की आहुति देकर यज्ञ करते हैं (अर्थात् आसक्ति छोड़कर विषयों को ग्रहण करते हैं)।
26। आणखी एक प्रकारचे योगी असतात—नैष्ठिक ब्रह्मचारी. ते संयम-रूपी अग्नीत इंद्रियांचा होम करतात (म्हणजे इंद्रियांची आहुती देतात). आणि काही दुसरे योगी (गृहस्थ) असतात—ते इंद्रिय-रूपी अग्नीत शब्द वगैरे विषयांची आहुती देऊन यज्ञ करतात (म्हणजे आसक्ती सोडून विषयांचा स्वीकार करतात).

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे। आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥27॥
27। और एक प्रकार के योगी (पातंजल योगी) हैं, वे सारी इन्द्रियाँ और उनके कर्म (श्रवण दर्शन आदि) एवं दस प्राण और उनके कार्यों की ज्ञान से जलती हुई आत्म-संयम रूपी योग की अग्नि में आहुति दिया करते हैं।
27। आणखी एक प्रकारचे योगी (पातंजल योगी) असतात—ते सर्व इंद्रिये आणि त्यांची कर्मे (श्रवण, दर्शन इत्यादी) तसेच दहा प्राण आणि त्यांच्या कार्यांची आहुती ज्ञानाने प्रज्वलित झालेल्या आत्मसंयम-रूपी योगाच्या अग्नीत देतात.

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥28॥
28। इस प्रकार कुछ संयमी व्यक्ति धन-सम्पत्ति का दान करके ‘द्रव्य-यज्ञ’ करते हैं, कुछ कष्टसाध्य चान्द्रायण-व्रत आदि ‘तप-यज्ञ’ करते हैं, कुछ ‘योग- यज्ञ’ (अष्टांग योग रूपी यज्ञ) करते हैं और कुछ स्वधर्म पालन करते हुए (वेद पाठ रूपी) ‘स्वाध्याय ज्ञान-यज्ञ’ करते हैं। इस प्रकार यत्न करने वाले सभी व्यक्ति दृढ़ व्रती हैं।
28। काही संयमी व्यक्ती धनसंपत्तीचे दान करून ‘द्रव्य-यज्ञ’ करतात. काहीजण कष्टसाध्य चांद्रायण-व्रत इत्यादी ‘तप-यज्ञ’ करतात.

काहीजण ‘योग-यज्ञ’ (अष्टांग-योगरूपी यज्ञ) करतात. तर काहीजण स्वधर्माचे पालन करताना (वेदपाठरूपी) ‘स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञ’ करतात. अशा प्रकारे यत्न करणारे सर्वजण दृढव्रती असतात.

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति॥29॥
29। और कुछ योगी प्राणायाम में रत रहते हैं। वे ‘अपान’- वायु में ‘प्राण’-वायु की आहुति देते हैं और इसी तरह ‘प्राण’- वायु में ‘अपान’-वायु की। इस प्रकार वे क्रमशः प्राण और अपान वायु की गति रोककर प्राणायाम (कुम्भक) का अभ्यास करते हैं। और कुछ ऐसे भी योगी हैं जो भोजन को नियमित करके प्राणों की प्राणों में आहुति देते हैं।
29। काही योगी प्राणायामात रत असतात. ते ‘अपान’- वायूमध्ये ‘प्राण’-वायूची आहुती देतात आणि तसेच ‘प्राण’- वायूमध्ये ‘अपान’-वायूची आहुती देतात. अशा प्रकारे ते क्रमशः प्राण आणि अपान वायूची गती रोधून प्राणायामाचा (कुंभकाचा) अभ्यास करतात. आणि काही योगी भोजनाचे नियमन करून प्राणांची प्राणांमध्ये आहुती देतात.

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षयितकल्मषाः। यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्॥30॥
30। ये सब यज्ञ का तत्त्व जानते हैं और यज्ञ से अपने पापों का नाश करके यज्ञ के अवशेष अमृत का सेवन कर अंत में सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।
30। हे सर्वजण यज्ञाचे तत्त्व जाणतात आणि यज्ञाने आपले पाप नष्ट करून यज्ञातील अवशिष्ट अमृताचे सेवन करतात; शेवटी ते सनातन ब्रह्माला प्राप्त होतात.

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥31॥
31। हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन, यज्ञ न करने वाले व्यक्ति
के लिए तो अल्प सुख वाले इस मनुष्य लोक की ही प्राप्ति सम्भव नहीं है, फिर परलोक आदि की बात क्या है?
३१। हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन, यज्ञ न करणाऱ्या मनुष्याला
हा अल्प सुख प्रदान करणारा मनुष्यलोकही प्राप्त होऊ शकत

नाही, मग परलोकाच्या प्राप्तिबद्दल काय बोलावे?
३१। हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन, जो मनुष्य यज्ञ करत नाही त्याला अल्पसुखदायी या मनुष्यलोकाचीही प्राप्ती होण्याची
शक्यता नसते; मग परलोक इत्यादीची तर गोष्टच काय!

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥
32॥
32। इस तरह बहुत प्रकार के यज्ञों की बात वेदों में विस्तार से कही गई है। (वाक्य, मन तथा शारीरिक-कर्म-मूलक होने के कारण) उन्हें ‘कर्मजात’ (कर्म से उत्पन्न) हुआ जानो। इस प्रकार कर्म-तत्त्व को जान लेने से तुम संसार के बंधन से पूरी तरह मुक्त हो जाओगे।
३२। अशा प्रकारे अनेक प्रकारचे यज्ञ वेदांमध्ये विस्ताराने सांगितले आहेत. (वाक्य, मन आणि शारीरिक कर्म यांवर आधारित असल्यामुळे) त्यांना ‘कर्मजात’ (कर्मातून उत्पन्न झालेले) समजावे. अशा रीतीने कर्मतत्त्व जाणून घेतल्याने तू संसारबंधनातून पूर्णतः मुक्त होशील.

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥33॥
33। हे परन्तप! द्रव्यमय (धन-द्रव्य से किये गए) यज्ञ
से ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है। इस प्रकार हे पार्थ! सब प्रकार के कर्मों की समाप्ति ज्ञान में ही होती है (अर्थात् समस्त कर्मों में चिद्भाव रूपी ज्ञान का उदय होता है)।
३३। हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमय म्हणजे धन-द्रव्याने केलेल्या यज्ञापेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ आहे. हे पार्थ! अशा प्रकारे सर्व प्रकारच्या कर्मांची परिसमाप्ती ज्ञानातच होते (अर्थात सर्व कर्मांमध्ये चिद्भावरूपी ज्ञानाचा उदय होतो).
33। हे परंतप! द्रव्यमय (धन-द्रव्याने केलेल्या) यज्ञापेक्षा ज्ञानरूपी (ज्ञानमय) यज्ञ श्रेष्ठ आहे. म्हणून, हे पार्थ! सर्व प्रकारच्या कर्मांची परिसमाप्ती ज्ञानातच होते (म्हणजेच सर्व कर्मांमध्ये चिद्भावरूपी ज्ञानाचा उदय होतो).

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥34॥
34। [ज्ञान-अधिकार प्राप्त कर सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजन
का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तत्त्वदर्शी साधुओं के संग की आवश्यकता है, इसलिए] वह ज्ञान तुम तत्त्वदर्शी ज्ञानियों से प्राप्त करो। उन्हें ‘प्रणिपात’ अर्थात् दण्डवत् प्रणाम (शरणागति), ‘परिप्रश्न’ अर्थात् सरलता के साथ सविनय प्रश्न एवं ‘सेवा’ अर्थात् सेवक की तरह परिचर्या करने पर वे तुम्हें उस ज्ञान का उपदेश देंगे।
३४। [ज्ञानाचा अधिकार प्राप्त करून संबंध-अभिधेय-प्रयोजन यांचे ज्ञान प्राप्त करण्यासाठी तत्त्वदर्शी साधूंच्या संगतीची आवश्यकता आहे, म्हणून] ते ज्ञान तू तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुषांकडून प्राप्त कर. त्यांना ‘प्रणिपात’ म्हणजे दंडवत प्रणाम (शरणागती), ‘परिप्रश्न’ म्हणजे सरळपणे व विनयाने प्रश्न विचारणे आणि ‘सेवा’ म्हणजे सेवकाप्रमाणे परिचर्या केल्यावर ते तुला त्या ज्ञानाचा उपदेश प्रदान करतील.

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषाणि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥35॥
35। जिस ज्ञान को प्राप्त कर हे पाण्डव! तुम्हें फिर कभी इस प्रकार का भ्रम (मोह) नहीं होगा; उस ज्ञान का आश्रय कर तुम स्थावर-जंगम सब प्राणियों को चिन्मय आत्मा रूप में देख सकोगे और इसके बाद कार्य रूप से परम कारण मुझ परमात्मा में भी अवस्थित देखोगे।
35। हे पांडव! ते ज्ञान प्राप्त केल्यावर तुला पुन्हा कधीही असा भ्रम (मोह) होणार नाही. त्या ज्ञानाचा आश्रय करून तू स्थावर-जंगम सर्व प्राण्यांना चिन्मय आत्म्यांच्या रूपात पाहशील आणि त्यानंतर त्यांना माझ्यात अर्थात कार्यरूप परम कारण परमात्म्यातही अवस्थित पाहशील.
35। हे पांडव! ते ज्ञान प्राप्त केल्यावर तुला पुन्हा कधीही असा भ्रम (मोह) होणार नाही. त्या ज्ञानाचा आश्रय करून तू स्थावर-जंगम सर्व प्राण्यांना चिन्मय आत्म्यांच्या रूपात पाहशील आणि त्यानंतर त्यांना कार्यरूप परम कारण मज परमात्म्यातही अवस्थित पाहशील.

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥36॥
36। यदि तुम सब पापियों से भी अधिक पापी होओ, तो भी इस ज्ञान रूपी नौका का आश्रय कर तुम भयंकर पाप समुद्र से पार हो जाओगे।
36। हे पांडव! जर तू सर्व पापी व्यक्तींपेक्षाही अधिक पापी असलास तरी, या ज्ञानरूपी नौकेचा आश्रय घेऊन तू भयंकर पापसमुद्रातून पार होशील.

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥37॥
37। और फिर जैसे प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित अग्नि लकड़ियों के ढेर को जलाकर भस्म कर डालती है, ऐसे ही यह ज्ञान रूपी अग्नि भी पाप-पुण्य आदि सब कर्मों को भस्म कर देती है।
३७। आणि ज्याप्रमाणे प्रचंड रूपाने प्रज्वलित झालेला अग्नी लाकडांच्या ढिगाला जाळून भस्मसात करून टाकतो, त्याचप्रमाणे हा ज्ञानरूपी अग्नी देखील पाप-पुण्य इत्यादी सर्व कर्मांना भस्म करून टाकतो.
37। जसा प्रचंड ज्वलनशील अग्नी लाकडांच्या ढिगाला जाळून भस्म करतो, तसाच हा ज्ञानरूपी अग्नी पाप-पुण्य इत्यादी सर्व कर्मांना भस्म करतो.

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥38॥
38। इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र या शुद्ध करने वाला निश्चय ही और कुछ भी नहीं है। निष्काम कर्मयोग की सिद्धि से मनुष्य समय आने पर स्वयं उस ज्ञान को अपने हृदय में अनुभव कर लेता है।
38> या संसारात ज्ञानापेक्षा पवित्र किंवा शुद्ध करणारे नक्कीच दुसरे काहीही नाही. निष्काम कर्मयोगाची सिद्धी झाल्यावर मनुष्य योग्य काळ आल्यावर स्वतः त्या ज्ञानाचा अनुभव आपल्या हृदयात घेतो.

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥39॥
39। श्रद्धालु व्यक्ति इन्द्रिय-संयम द्वारा निष्काम कर्मयोग में निष्ठ होकर उस ज्ञान को पा लेता है; [उसका लक्षण यह है कि,] ज्ञान प्राप्त होने पर उसे शीघ्र ही संसारनाश-रूपी परम शान्ति प्राप्त होती है।
३९। श्रद्धाळू व्यक्ती इंद्रियसंयमाद्वारे निष्काम कर्मयोगात निष्ठ होऊन ते ज्ञान प्राप्त करून घेते; [त्याचे लक्षण हे की,] ज्ञान प्राप्त झाल्यावर तिला लवकरच संसारनाशरूपी परम शांती प्राप्त होते.
३९। श्रद्धावान व्यक्ती इंद्रियसंयमाद्वारे निष्काम कर्मयोगात निष्ठ होऊन ते ज्ञान प्राप्त करून घेते; [त्याचे लक्षण हे की,] ज्ञान प्राप्त झाल्यावर तिला लवकरच संसारनाशरूपी परम शांती प्राप्त होते.

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥40॥
40। [किसे ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार नहीं है, सुनो] अज्ञानी (पशु आदि के समान मूढ़), श्रद्धाहीन और ‘संशयात्मा’ (संशय में पड़ा हुआ)—ये तीन प्रकार के व्यक्ति महा-अमंगल-रूपी विनाश का आवाहन किया करते हैं। संदेह में पड़े हुए व्यक्ति को इस लोक में और परलोक में सुख कभी प्राप्त नहीं होता।
40। [कोणाला ज्ञान प्राप्त करण्याचा अधिकार नाही, ते ऐक.] अज्ञानी (पशूसारख्या मूढ), श्रद्धाहीन आणि ‘संशयात्मा’ (संशययुक्त)—ह्या तीन प्रकारच्या व्यक्ती महा-अमंगल-रूपी विनाशाला आमंत्रण देतात. संशयात अडकलेल्या व्यक्तीस या लोकात आणि परलोकात कधीही सुख प्राप्त होत नाही.
40। [कोणाला ज्ञान प्राप्त करण्याचा अधिकार नाही, ते ऐक.] अज्ञानी (पशूसारख्या मूढ), श्रद्धाहीन आणि ‘संशयात्मा’ (सतत शंका घेणाऱ्या)—ह्या तीन प्रकारच्या व्यक्ती महा- अमंगल-रूपी विनाशाला आमंत्रण देतात. संशयात अडकलेल्या व्यक्तीस या लोकात आणि परलोकात कधीही सुख प्राप्त होत नाही.

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥41॥
41। [इसलिए सारांश यह है कि,] जिसने निष्काम कर्मयोग के द्वारा सब कर्मों को ईश्वर में अर्पित कर दिया है और ज्ञान से जिसके सब संशय मिट चुके हैं एवं फलतः जो आत्मा के स्वरूप से अवगत हो गया है, उसे हे धनञ्जय! कोई कर्म नहीं बाँध सकता।
41। [म्हणून सारांश असा आहे की,] ज्याने निष्काम कर्मयोगाद्वारे सर्व कर्मे ईश्वराला अर्पण केली आहेत आणि ज्ञानाने ज्याचे सर्व संशय नष्ट झाले आहेत व त्यामुळे ज्याला आत्म्याचे स्वरूप अवगत झाले आहे, त्याला हे धनंजय! कोणतेही कर्म बांधू शकत नाही.
41। [म्हणून सारांश असा आहे की,] ज्याने निष्काम कर्मयोगाद्वारे सर्व कर्मे ईश्वराला अर्पण केली आहेत आणि ज्ञानाने ज्याचे सर्व संशय नष्ट झाले आहेत व त्यामुळे जो आत्म्याच्या स्वरूपाशी परिचित झाला आहे, त्याला हे धनंजय! कोणतेही कर्म बांधू शकत नाही.

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥42॥
इति ‘ज्ञानयोगो’ नाम चतुर्थोऽध्यायः।
42। हे भारत! तुम्हारे हृदय में अज्ञान से जो संशय उत्पन्न हुआ है, उसे ज्ञान की तलवार से काटकर निष्काम कर्मयोग का आश्रय करो, और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ।
42। हे भारत! तुझ्या हृदयात अज्ञानामुळे जो संशय उत्पन्न झाला आहे, तो ज्ञानाच्या तलवारीने छेदून टाक. निष्काम कर्मयोगाचा आश्रय घे आणि युद्धासाठी उभा राहा.
42। हे भारत! तुझ्या हृदयात अज्ञानामुळे जो संशय उत्पन्न झाला आहे, त्याला ज्ञानाच्या तलवारीने कापून टाकत निष्काम कर्मयोगाचा आश्रय घे, आणि युद्धासाठी सज्ज हो. इति चतुर्थ अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
इति चतुर्थ अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.

पञ्चमोऽध्यायः
कर्मसंन्यासयोगः
अर्जुन उवाच—
संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगञ्च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥1॥
1। अर्जुन ने कहा,—हे कृष्ण! आपने पहले कर्मत्याग (अर्थात् योग के द्वारा कर्म का त्याग करने) की प्रशंसा की और फिर कर्मयोग (अर्थात् ज्ञान के द्वारा संशय का छेदन करके युद्ध रूपी कर्म करने) की प्रशंसा की। अतएव आप मुझे वह एक मार्ग बताइए जो इन दोनों में से निश्चय से मंगलकारी है।
१। अर्जुन म्हणाला,—हे कृष्ण! आपण आधी कर्मत्यागाची (म्हणजे योगाद्वारे कर्माचा त्याग करण्याची) प्रशंसा केली आणि नंतर कर्मयोगाची (म्हणजे ज्ञानाने संशयाचे छेदन करून युद्धरूप कर्म करण्याची) प्रशंसा केली. म्हणून आपण मला या दोहोंपैकी निश्चितपणे अधिक कल्याणकारी असा एकच मार्ग सांगा.
1। अर्जुन म्हणाला, “हे कृष्ण! आपण आधी कर्मत्याग (अर्थात योगाद्वारे कर्माचा त्याग करणे) याची प्रशंसा केली आणि पुन्हा कर्मयोग (अर्थात ज्ञानाद्वारे संशयाचा नाश करून युद्धरूपी कर्म करणे) याची प्रशंसा केली. म्हणूनच, या दोन्हीपैकी जो मार्ग माझ्यासाठी निश्चितपणे कल्याणकारी (मंगलकारी) असेल, तो एकच मार्ग मला सांगा.”

श्रीभगवानुवाच—
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥2॥
2। श्रीभगवान ने कहा,—कर्मत्याग तथा कर्मयोग दोनों ही मंगलकारी हैं। किन्तु कर्मत्याग की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग ही श्रेष्ठ है [क्योंकि अशुद्ध चित्त वाले व्यक्तियों के लिए वह सहज तथा प्रमादहीन है]।
२। श्रीभगवान म्हणाले,—कर्मत्याग आणि कर्मयोग हे दोन्हीही कल्याणकारी आहेत. परंतु कर्मत्यागापेक्षा निष्काम कर्मयोगच श्रेष्ठ आहे [कारण अशुद्ध चित्त असलेल्या व्यक्तींसाठी तो सुलभ व प्रमादरहित आहे].

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति। निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥3॥
3। हे महाबाहो! जो व्यक्ति किसी से द्वेष नहीं करता, न
ही किसी वस्तु की इच्छा करता है, उस निर्द्वन्द्व पुरुष को [कर्म करते रहने पर भी] सदा संन्यासी ही समझना चाहिए। वह राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित होकर बड़ी आसानी से संसार के कर्म-बंधनों से छूट जाता है।
३. हे महाबाहो! जो मनुष्य कोणाचाही द्वेष करत नाही आणि कोणत्याही वस्तूची इच्छा बाळगत नाही, त्या निर्द्वन्द्व पुरुषाला [कर्म करत असतानाही] नेहमी खरा संन्यासी मानावे. राग-द्वेष (प्रिय-अप्रिय भाव) यांसारख्या द्वन्द्वांपासून मुक्त झाल्यामुळे तो सहजपणे संसारातील कर्मबंधनांतून मुक्त होतो.

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥4॥
4। कम बुद्धि वाले लोग सांख्य (अर्थात् ज्ञानयोग) एवं कर्मयोग को अलग-अलग फल वाला बताते हैं, किन्तु पंडितगण ऐसा नहीं कहते। अतएव [अधिकार के अनुसार] इन दोनों में से किसी एक का यथार्थ रूप से आश्रय करने पर एक ही फल प्राप्त होता है।
४। अल्प बुद्धीचे लोक सांख्य (म्हणजेच ज्ञानयोग) आणि कर्मयोग यांना भिन्न-भिन्न फळ देणारे मानतात, परंतु पंडितगण असे म्हणत नाहीत. म्हणून [अधिकारानुसार] या

दोहोंपैकी कोणत्याही एकाचा यथार्थपणे आश्रय घेतल्यास एकच फळ प्राप्त होते.
४. हे महाबाहो! अल्पबुद्धी लोक ‘सांख्य’ (ज्ञानयोग) आणि ‘कर्मयोग’ यांना वेगवेगळे फळ देणारे मानतात; परंतु पंडितजन तसे म्हणत नाहीत. म्हणून [अधिकारानुसार] या दोन्हींपैकी कोणत्याही एका योगाचा यथार्थ रूपात आश्रय घेतल्यास एकच फळ प्राप्त होते.

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति॥5॥
5। जो परमधाम ज्ञानयोग से प्राप्त होता है, निष्काम-कर्मयोग से भी वही प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों को जो वास्तव में समान फलदायी देखता है, वही यथार्थदर्शी है।
५. जे परमधाम ज्ञानयोगाने प्राप्त होते, तेच निष्काम कर्मयोगानेही प्राप्त होते. म्हणून ज्ञानयोग आणि कर्मयोग या दोन्हींचे फळ समान आहे असे जो खरोखर पाहतो, तोच यथार्थदर्शी आहे.

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥6॥
6। निष्काम कर्मयोग के बिना केवल कर्मत्याग रूपी
संन्यास, दुःखदायी है। दूसरी ओर, हे महाबाहो! योग-युक्त निष्काम-कर्मी आत्म-मननशील ‘मुनि’ होकर ब्रह्म की प्राप्ति में अधिक समय नहीं लगता।
६. निष्काम कर्मयोगाशिवाय केवळ कर्मत्यागरूपी संन्यास, दुःखदायी ठरतो. परंतु, हे महाबाहो! योगयुक्त निष्काम-कर्मी (अर्थात निष्काम-कर्म करणारा मनुष्य) आत्ममननशील ‘मुनी’ बनतो आणि त्याला ब्रह्मप्राप्तीत अधिक वेळ लागत नाही.

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥7॥
7। निष्काम कर्मयोगी—‘विशुद्धात्मा’ (विशुद्ध अन्तःकरण वाला), ‘विजितात्मा’ (बुद्धि को वश में कर लेने वाला) और जितेन्द्रिय है; अतएव वह सब जीवों का अनुराग-भाजन (अत्यन्त प्रिय) है। इस प्रकार का व्यक्ति समस्त कर्म करता हुआ भी किसी कर्म में लिप्त नहीं होता।
७. निष्काम कर्मयोगी ‘विशुद्धात्मा’ (विशुद्ध अंतःकरण असलेला), ‘विजितात्मा’ (बुद्धीला वश केलेला) आणि ‘जितेन्द्रिय’ असतो; म्हणून तो सर्व जीवांचा अनुराग-भाजन (अत्यंत प्रिय) असतो. अशा प्रकारचा मनुष्य सर्व कर्मे करीत असला तरी तो कोणत्याही कर्मात लिप्त होत नाही.

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन्
श्वसन्॥8॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन्॥9॥
8–9। आत्मतत्त्व को जानने वाला कर्मयोगी मानता है कि ‘मैं कुछ भी नहीं करता’; इसीलिए वह देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास-प्रश्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, पलकों को खोलता या मूँदता हुआ भी यह समझता है कि ‘सब इन्द्रियाँ तो शरीर- उपयोगी अपने-अपने विषयों में

नियुक्त मात्र हैं’।
८–९. आत्मतत्त्व जाणणारा कर्मयोगी असे मानतो की—‘मी काहीही करत नाही.’ म्हणून तो पाहत असताना, ऐकत असताना, स्पर्श करत असताना, वास घेत असताना, भोजन करत असताना, चालत असताना, झोपत असताना, श्वासोच्छ्वास करत असताना, बोलत असताना, त्याग करत असताना, ग्रहण (सेवन) करत असताना, डोळ्यांच्या पापण्या उघडताना व बंद करत असतानाही असेच समजतो की—‘सर्व इंद्रिये ही शरीरासाठी उपयोगी असलेल्या त्यांच्या-त्यांच्या विषयांत कार्यरत आहेत.’

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥10॥
10। जो फल में आसक्ति को त्यागकर सभी कर्मों को मुझ परमेश्वर में अर्पण करते हुए कर्म करते हैं, जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी जल में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार वे भी पाप कार्य से अछूता रहते हैं।
10। जे लोक फळातील आसक्तीचा त्याग करून सर्व कर्मे मज परमेश्वराला अर्पण करीत कार्यरत असतात, जसे कमळाचे पान पाण्यात राहात असतानाही पाण्याने ओले होत नाही, त्याच प्रकारे ते सुद्धा पापकार्याच्या स्पर्शापासून दूर राहातात.
१०. जे लोक फळावरील आसक्ती सोडून सर्व कर्मे मज परमेश्वराला अर्पण करून करतात, त्यांना पापकर्मे स्पर्श करीत नाहीत जसे कमळाचे पान पाण्यात राहूनही ओले होत नाही.

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥11॥
11। इसलिए कर्मयोगिगण शरीर से, मन से, बुद्धि से और कभी केवल विशुद्ध इन्द्रियों से भी आसक्ति छोड़कर चित्त की शुद्धि के लिए कर्म किया करते हैं।
11। म्हणून कर्मयोगिगण (कर्मयोगी लोक) शरीराने, मनाने, बुद्धीने आणि कधी केवळ विशुद्ध इंद्रियांनी देखील आसक्ती सोडून चित्ताच्या शुद्धीसाठी कर्म करीत असतात.

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥12॥

12। अतएव जो ‘युक्त’ (कर्मयोगाश्रयी) है, वह कर्मफल को छोड़कर मोक्ष रूपी परम शांति पाता है, जबकि इसके विपरीत ‘अयुक्त’ व्यक्ति अर्थात् सकाम-कर्मी कर्मफल में आसक्त होकर कामना के कारण [पाप-पुण्य के] कर्मबंधन में पड़ता है।
12। म्हणून जो मनुष्य ‘युक्त’ (कर्मयोगाचा आश्रय घेणारा) आहे, तो कर्मफळाचा त्याग करून मोक्षरूपी परम शांती प्राप्त करतो, तर याच्या उलट ‘अयुक्त’ मनुष्य म्हणजेच सकाम-कर्मी कर्मफळात आसक्त होऊन कामनेमुळे [पाप-पुण्याच्या] कर्मबंधनात पडतो.

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥13॥
13। जितेन्द्रिय व्यक्ति मन के द्वारा सभी कर्मों को सम्पूर्ण रूप से त्यागकर इस नौ द्वारों वाले शरीर रूपी घर में सुखपूर्वक वास करता है। वह न तो स्वयं कार्य करता है और न ही दूसरों से करवाता है।
13। जितेन्द्रिय मनुष्य मनाद्वारे सर्व कर्मांचा सम्पूर्णपणे त्याग करून या नऊ द्वार (दरवाजे) असणाऱ्या शरीररूपी घरात सुखपूर्वक राहतो. तो स्वतः कोणतेही कार्य करत नाही आणि इतरांकडूनही करवून घेत नाही.
13। जितेन्द्रिय व्यक्ती मनाद्वारे सर्व कर्मांचा सम्पूर्णपणे त्याग करून या नऊ द्वार (दरवाजे) असणाऱ्या शरीररूपी घरात सुखपूर्वक राहते. ती व्यक्ती स्वतःही कार्य करत नाही आणि दूसऱ्यांकडूनही कार्य करवून घेत नाही.

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते॥14॥
14। परमेश्वर जीवों के कर्त्तापन एवं कर्म की सृष्टि नहीं करते हैं।कर्मफल का संयोग भी उनके द्वारा नहीं होता है। किन्तु जीवों का स्वभाव अर्थात् अनादि अविद्या ही उस कर्त्तापन (मैं कर्ता हूँ, इस भाव) आदि का प्रवर्त्तन करती है।
१४. परमेश्वर जीवांच्या कर्तेपणाची व कर्माची सृष्टी करत नाहीत. कर्मफलाचा संयोगही त्यांच्याकडून होत नाही. परंतु जीवांचा स्वभाव अर्थात अनादि अविद्याच त्या कर्तेपणाचे (मी कर्ता आहे, या भावाचे) प्रवर्तन करते.

१४. परमेश्वर जीवांचे कर्तेपण आणि कर्म यांची निर्मिती करत नाहीत. कर्मफळाचा संयोगही त्यांच्याद्वारे घडत नाही. परंतु जीवांचा स्वभाव, म्हणजेच अनादि अविद्याच, त्या कर्तेपणाला (मी कर्ता आहे, या भावाला) प्रवृत्त करते (अर्थात चालना देते).

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥15॥
15। दूसरी ओर ईश्वर न किसी जीव के [अविद्या जनित] पाप
को और न ही किसी के पुण्य को ग्रहण करते हैं। किन्तु अविद्या (अज्ञान) से जीवों का स्वरूप-ज्ञान ढका होने के कारण सब जीव देहात्म-अभिमान में मोहित (भ्रमित) हो जाते हैं। (अर्थात् वे अपने आप को शरीर समझ बैठते हैं और मोहवश ‘मैं करने वाला हूँ’ इस प्रकार कर्त्ता होने का अभिमान करते हैं।)
15। दुसरीकडे, ईश्वर कोणत्याही जीवाचे [अविद्येमुळे उत्पन्न झालेले] पाप किंवा पुण्य स्वीकारत नाहीत. परंतु अविद्येमुळे (अज्ञानामुळे) जीवांचे स्वरूपज्ञान झाकले जाते, म्हणून सर्व जीव देहात्म-अभिमानाने (‘देहच आत्मा आहे’ किंवा ‘मी शरीर आहे’—या भ्रामक कल्पनेने) मोहित (भ्रमित) होतात. (म्हणजेच ते स्वतःला शरीर समजतात आणि मोहवशतः ‘मी कार्य करणारा आहे’ असा कर्तेपणाचा अभिमान बाळगतात.)

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥16॥
16। किन्तु जिनका वह अज्ञान आत्मज्ञान से नष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य के समान प्रकाशित होकर (अविद्या को नष्ट करते हुए) अप्राकृत परम तत्त्व को प्रकाशित कर देता है।
16। परंतु ज्यांचे ते अज्ञान आत्मज्ञानाने नष्ट झाले आहे, त्यांचे ते ज्ञान सूर्यासमान प्रकाशित होऊन (अविद्या नष्ट करून) अप्राकृत परम-तत्त्व प्रकाशित करते.

तबुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥17॥
17। जिनके समस्त अविद्या-रूपी पाप विद्या द्वारा धुल चुके हैं, जिन महात्माओं की बुद्धि, मन और निष्ठा परम-तत्त्व के प्रति एकाग्र हो गयी है, जो उनके श्रवण-कीर्तन परायण हैं, वे जगत में पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाते हैं।
१७। ज्यांची सर्व अविद्या-रूपी पापे विद्येने धुतल्या गेली आहेत, ज्यांची बुद्धी, मन आणि निष्ठा परम-तत्त्वावर एकाग्र झाली आहे, जे परम-तत्त्वाचे (भगवंतांचे) श्रवण-कीर्तन करण्यात तत्पर आहेत, असे महात्मे ‘जगात वारंवार जन्म घेणे व मृत्यू पावणे’ या चक्रातून मुक्त होतात.

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥18॥

18। वे ज्ञानीगण समदर्शी (सर्वत्र परमात्म-दर्शी) होते हैं; वे क्या विद्या -विनय-संपन्न ब्राह्मण और क्या कुकुर-भोजी चाण्डाल अथवा क्या अन्यान्य प्राणी गाय, हाथी, कुत्ता — सभी में विराजमान परमात्मा का दर्शन करते हैं।
१८. ते ज्ञानी लोक समदर्शी (सर्वत्र परमात्म-दर्शी) असतात; ते विद्या-विनयसंपन्न ब्राह्मण असो वा कुत्र्याचे मांस खाणारा चांडाळ असो, अथवा गाय, हत्ती, कुत्रा इत्यादी इतर प्राणी असोत—सर्वांमध्ये विराजमान असलेल्या परमात्म्याचे दर्शन घेतात.
१८। ज्ञानीजन समदर्शी (सर्वत्र परमात्म्याचे दर्शन करणारे) असतात; ते विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण असो किंवा कुत्र्याचे मांस भक्षण करणारा चांडाळ, अथवा इतर प्राणी— गाय, हत्ती, कुत्रा—ते सर्वांमध्ये विराजमान असलेल्या परमात्म्याचे दर्शन करतात.

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥19॥
19। इस जगत में रहते हुए जिनका मन ‘साम्य’ में अर्थात् समभाव में स्थिर हो जाता है, वे ही संसार को जीत लेते हैं।
[यदि पूछो कि, ‘सम’ क्या है] तो सम का अर्थ है—सर्वदोष रहित ब्रह्म। इसलिए वे व्यक्ति सदा ब्रह्म में ही स्थित हैं।
19। या जगात राहून ज्यांचे मन ‘साम्यभावात’ (समत्वात) अर्थात समभावात स्थिर झाले आहे, तेच संसाराला जिंकतात. [जर विचाराल की ‘सम’ म्हणजे काय,] तर ‘सम’ शब्दाचा अर्थ आहे सर्व दोषांपासून रहित असे ब्रह्म. म्हणून अश्या व्यक्ती सदैव ब्रह्मातच स्थित असतात.
१९। या जगात राहून ज्यांचे मन ‘साम्यात’ म्हणजेच समभावात स्थिर होते, तेच संसाराला जिंकतात. [जर विचाराल की, ‘सम’ म्हणजे काय] तर ‘सम’ शब्दाचा अर्थ आहे—सर्व दोषांपासून रहित असलेले ब्रह्म. म्हणून ते लोक सदैव ब्रह्मामध्येच स्थित असतात.

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि॥20॥
20। [उनका लक्षण यह है कि,] जो प्रिय वस्तु को पाकर हर्ष
से प्रफुल्लित नहीं होते और अप्रिय वस्तु को पाकर दुःखी भी नहीं होते, ऐसे स्थिर-बुद्धि वाले तथा मोह-रहित ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्म में स्थित हैं।
२०. [त्यांचे लक्षण असे आहे की,] जे प्रिय वस्तू मिळाल्यावर हर्षाने प्रफुल्लित होत नाही आणि अप्रिय वस्तू मिळाल्यावर दुःखीही होत नाही, असे स्थिर-बुद्धीचे व मोह-रहित ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्मात स्थित असतात.
२०। [त्यांचे लक्षण असे आहे की,] जे प्रिय वस्तू मिळाल्यावर हर्षाने फुलून जात नाहीत आणि अप्रिय वस्तू मिळाल्यावर दुःखीही होत नाहीत, असे स्थिर-बुद्धी असलेले व मोह-रहित ब्रह्म-ज्ञानी पुरुष ब्रह्मामध्ये स्थित असतात.

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥21॥
21। बाहरी विषय-वासनाओं में अनासक्त चित्त वाले उस

व्यक्ति को आत्मा में सुख (चित्सुख) की प्राप्ति होती है। वह ‘ब्रह्मयोगयुक्त’ होकर अर्थात् परमात्म-समाधियोग में अक्षय सुख का अनुभव करता है।
21। बाह्य विषय-वासनांमध्ये आसक्त नसलेल्या चित्ताच्या त्या व्यक्तीला आत्म्यामधील सुख—चित्सुख— प्राप्त होते. ती ‘ब्रह्मयोगयुक्त’ होऊन, अर्थात परमात्म्याशी समाधियोग साधून, अक्षय सुखाचा अनुभव घेते.
२१। बाह्य विषय-वासनांमध्ये अनासक्त चित्त असलेल्या त्या व्यक्तीला आत्म्यामध्ये सुख (चित्सुख) प्राप्त होते. ती ‘ब्रह्मयोगयुक्त’ होऊन म्हणजेच परमात्म-समाधियोगामध्ये अक्षय सुखाचा अनुभव घेते.

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥22॥
22। इन्द्रियों और विषयों के संयोग से जो सुख पैदा होता है, वह परिणाम में दुःख का कारण होता है—उस सुख का जिस प्रकार प्रारम्भ है, उसी प्रकार अन्त भी है अर्थात् वह अनित्य (अस्थायी) है। इसलिए हे कौन्तेय! बुद्धिमान् व्यक्ति उसमें रमण नहीं करते।
२२। इंद्रिये आणि विषयांच्या संयोगाने जे सुख उत्पन्न होते, ते परिणामाने दुःखाचे कारण होते—त्या सुखाला जसा प्रारंभ आहे, तसाच अंतही आहे म्हणजेच ते सुख अनित्य (अस्थायी) आहे. म्हणून हे कौंतेय! बुद्धिमान लोक त्यात रममाण होत नाहीत.
22। इंद्रिये आणि विषयांच्या संयोगातून जे सुख निर्माण होते, ते परिणामी दुःखाचे कारण ठरते—त्या सुखाला ज्याप्रमाणे आरंभ आहे, त्याप्रमाणे अंतही आहे, म्हणजेच ते सुख अनित्य अर्थात् अस्थायी आहे. म्हणून हे कौन्तेय! बुद्धिमान लोक त्यात रमत नाहीत.

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥23॥
23। जो मनुष्य शरीर छूटने से पहले इस जन्म में ही काम
और क्रोध के वेग को सहन करने में समर्थ हुआ है, वही युक्त अर्थात् यथार्थ योगी है और वही वास्तव में सुखी है।
23। जो मनुष्य शरीर सुटण्यापूर्वी—या जन्मातच—काम आणि क्रोधाचा वेग सहन करण्यास समर्थ झाला आहे, तोच ‘युक्त’ म्हणजेच खरा योगी आहे, आणि तोच खऱ्या अर्थाने सुखी आहे.
23. जो मनुष्य शरीर सोडण्यापूर्वीच या जन्मात काम आणि क्रोधाच्या वेगांना सहन करू शकलो, तोच युक्त म्हणजे खऱ्या अर्थाने योगी आहे आणि तोच खरोखर सुखी आहे.

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥24॥
24। जो अन्तर्जगत (अपनी आत्मा) के अनुभव में ही सुखी है, आत्मा में ही रमण करने वाला है, आत्मा में ही दृष्टि- युक्त है, वही वास्तव योगी पुरुष है; वह ‘ब्रह्मभूत’ (शुद्ध जीव-स्वरूप में अधिष्ठित) व्यक्ति ‘ब्रह्म-निर्वाण’ रूपी

मोक्ष प्राप्त करता है।
२४। जो अंतर्जगताच्या (स्वतःच्या आत्म्याच्या) अनुभवातच सुखी आहे, आत्म्यातच रमण करणारा आहे, आत्म्यातच दृष्टि-युक्त आहे—तोच खरा योगी पुरुष आहे. अशी ‘ब्रह्मभूत’ (शुद्ध जीवस्वरूपात स्थित) व्यक्ती ‘ब्रह्मनिर्वाण’ रूपी मोक्ष प्राप्त करते.

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥25॥
25। जिनके पाप नष्ट हो गए हैं, जिनकी सब दुविधाएँ मिट चुकी हैं, जो आत्मसंयमी हैं और सभी प्राणियों के हित में संलग्न हैं, ऐसे ऋषि ‘ब्रह्म-निर्वाण’ प्राप्त करते हैं।
२५। ज्यांचे पाप नष्ट झाले आहे, ज्यांच्या सर्व दुविधा मिटल्या आहेत, जे आत्मसंयमी आहेत आणि सर्व प्राण्यांच्या हितासाठी संलग्न आहेत—असे ऋषी ‘ब्रह्मनिर्वाण’ प्राप्त करतात.
25| ज्यांची सर्व पापे नष्ट झाली आहेत, ज्यांच्या मनातील सर्व संशय किंवा दुविधा (शंका) मिटल्या आहेत, जे पूर्णपणे आत्मसंयमी आहेत आणि जे सर्व प्राण्यांचे हित साधण्यात मग्न आहेत, असे ऋषी ‘ब्रह्म-निर्वाण’ प्राप्त करतात.

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम्॥26॥
26। जो काम और क्रोध से मुक्त हैं, जिन्होंने मन को वश में कर लिया है, ऐसे आत्मतत्त्व-ज्ञानी संन्यासियों के लिए ब्रह्मनिर्वाण (मुक्ति) स्वयं उपस्थित हो जाता है।
26। जे काम (वासना) आणि क्रोधापासून मुक्त आहेत, ज्यांनी आपल्या मनावर पूर्ण ताबा मिळवला आहे, अशा आत्मतत्त्व-ज्ञानी संन्याशांसाठी ब्रह्म-निर्वाण किंवा मुक्ती स्वतःच उपस्थित होते.
२६। जे काम आणि क्रोध यांपासून मुक्त झाले आहेत, ज्यांनी मनाला वश केले आहे—असे आत्मतत्त्वज्ञानी संन्यासी सहजच ‘ब्रह्मनिर्वाण’ (मुक्ती) प्राप्त करतात.

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे
भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥27॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥28॥
27-28। [यहाँ ब्रह्म को अनुभव करने का साधन-स्वरूप अष्टांग-योग की कथा का दिग्दर्शन कर रहा हूँ,] शब्द-स्पर्श आदि बाहरी विषयों का चिन्तन त्यागकर, दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच में स्थिर करके तथा नासिका में श्वास एवं निःश्वास रूप में घूमने वाले प्राण तथा अपान वायु को सन्तुलित करके जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धि को वश में कर लिया है और जिसने अपनी इच्छा, भय और क्रोध भी नष्ट कर दिये हैं, ऐसा मोक्ष-परायण मुनि सदा मुक्त (अर्थात् जीवनमुक्त) ही है।
२७–२८। [येथे ब्रह्माचा अनुभव घेण्याचे साधनस्वरूप अष्टांगयोगाचे दर्शन सांगत आहे.] शब्द, स्पर्श इत्यादी बाह्य-विषयांच्या चिंतनाचा त्याग करून, दृष्टी दोन्ही भुवयांच्या मध्ये स्थिर करून, नासिकेतून श्वास-उच्छ्वासरूपाने फिरणाऱ्या प्राण आणि अपान वायूचे संतुलन साधून ज्याने इंद्रिये, मन आणि बुद्धी वश केली आहेत आणि ज्याने स्वतःची इच्छा, भय व क्रोध नष्ट केले आहेत—असा मोक्षपरायण मुनी सदैव मुक्त (अर्थात जीवनमुक्त) असतो.

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥29॥
इति ‘संन्यासयोगो’ नाम चतुर्थोऽध्यायः॥
29। [सर्वश्रेष्ठ उपदेश यह है, कि] मैं कर्मियों के ‘यज्ञ’ तथा ज्ञानियों की ‘तपस्या’ का भोक्ता हूँ अर्थात् पालक के रूप में उपास्य हूँ; मैं सभी प्राणियों का सुहृद हूँ; मैं ब्रह्म-रुद्र आदि सभी लोकों का महा-नियन्ता हूँ— मुझे इस प्रकार जानकर योगिगण शान्ति (मोक्ष) प्राप्त करते हैं।
२९। [सर्वश्रेष्ठ उपदेश हा आहे की] मी कर्म करणाऱ्यांच्या (कर्मींच्या) ‘यज्ञा’चा व ज्ञानी लोकांच्या ‘तपश्चर्ये’चा भोक्ता आहे, म्हणजेच पालक (पालनकर्ता) म्हणून उपास्य आहे; मी सर्व प्राणिमात्रांचा सुहृद आहे; मी ब्रह्मदेव-रुद्र इत्यादी सर्व लोकांचा महानियंता आहे—मला अशा प्रकारे जाणून योगी लोक शांती (मोक्ष) प्राप्त करतात.

इति पञ्चम अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
इति पञ्चम (पाचव्या) अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.
येथे पाचव्या अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त झाला.

षष्ठोऽध्यायः
ध्यानयोगः
श्रीभगवानुवाच—
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥1॥
1। श्रीभगवान ने कहा,—कर्मफल की अपेक्षा नहीं रखकर जो कर्त्तव्य- विचार से कर्म करता है, वही यथार्थ संन्यासी और योगी है। ‘निरग्नि’ होने पर ही (अर्थात् अग्निहोत्र यज्ञ आदि कर्मों का त्याग करने पर ही) कोई संन्यासी नहीं है या ‘अक्रिय’ होने पर ही (अर्थात् आधे नेत्र बंद करके दैहिक चेष्टा-शून्य होने पर ही) वह योगी नहीं है।
१. श्रीभगवान म्हणाले—जो मनुष्य कर्मफळाची अपेक्षा न ठेवता केवळ कर्तव्यबुद्धीने कर्म करतो, तोच खरा संन्यासी आणि खरा योगी आहे. फक्त ‘निरग्नि’ म्हणजे अग्निहोत्र यज्ञ इत्यादी कर्मांचा त्याग केला म्हणूनच कोणी संन्यासी होत नाही; आणि ‘अक्रिय’ झाल्यानेच (अर्थात अर्धे डोळे मिटून दैहिक हालचाली म्हणजेच देहाच्या सर्व कृती थांबवल्या म्हणूनच) तो योगी होत नाही.
१। श्रीभगवान म्हणाले,—कर्मफळाची अपेक्षा न ठेवता जो कर्तव्य-बुद्धीने कर्म करतो, तोच खरा संन्यासी आणि योगी होय. ‘निरग्नि’ झाल्याने म्हणजेच अग्निहोत्र यज्ञ इत्यादी कर्मांचा त्याग केल्याने कोणी संन्यासी होत नाही किंवा ‘अक्रिय’ झाल्यानेच (म्हणजे अर्धे डोळे मिटून देहाच्या सर्व हालचाली थांबविल्यानेच) तो योगी होत नाही.

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥2॥
2। हे पाण्डव! जिसे संन्यास कहते हैं, उसी को तुम योग समझना, क्योंकि भोग का संकल्प त्याग किये बिना कोई भी मनुष्य योगी नहीं हो सकता।
२. हे पांडव ज्याला संन्यास म्हणतात, त्यालाच तू योग समज.
कारण भोगांची इच्छा पूर्णपणे सोडल्याशिवाय कोणताही मनुष्य योगी होऊ शकत नाही.
२। हे पांडव! ज्याला संन्यास म्हणतात, त्यालाच तू योग समज, कारण भोगाचा संकल्प सोडल्याशिवाय कोणीही मनुष्य योगी होऊ शकत नाही.

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥3॥
3। योगारुरुक्षु (योग रूपी सीढ़ी पर आरूढ़ होने के इच्छुक) मुनि के लिए ‘निष्काम कर्म’ ही साधन कहलाता है एवं जिन लोगों ने योग में आरोहण किया है, उन योगारूढ़ियों के साधन को ‘शम’ (चित्त-विक्षेप-जनक कर्म की निवृत्ति) अर्थात् ‘शान्ति’ कहा जाता है।
३। योगारुरुक्षू (योगरूपी शिडीवर आरूढ होण्याची अर्थात चढण्याची इच्छा असलेल्या) मुनीसाठी ‘निष्काम कर्म’ हेच साधन म्हटले जाते, आणि ज्यांनी योगात आरोहण केले आहे, अशा योगारूढ व्यक्तींचे साधन ‘शम’ (चित्तात विक्षेप निर्माण करणाऱ्या अर्थात चित्त विचलीत करणाऱ्या कर्माची निवृत्ती) म्हणजेच ‘शांती’ असे म्हटले जाते.

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥4॥
4। जब वह इन्द्रियों द्वारा भोग्य विषयों में और उन भोगों के उपास्य-स्वरूप कर्मों में आसक्त नहीं होता तथा सब विषयों में आसक्ति को सम्पूर्ण रूप से त्याग देता है, तब उसे योगारूढ़ (योगपथ पर आरूढ़) कहा जाता है।
४. जेव्हा मनुष्य इंद्रियांद्वारे भोगण्यासारख्या विषयांमध्ये आणि त्या भोगांना प्राप्त करण्यासाठी केलेल्या कर्मांमध्ये आसक्त राहत नाही, आणि सर्व विषयांतील आसक्ती पूर्णपणे सोडून देतो, तेव्हा त्याला योगारूढ—म्हणजे योगमार्गावर स्थिरपणे आरूढ—असे म्हणतात.

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥5॥
5। [विषय-आसक्ति रहित] मन के द्वारा मनुष्य को अपना उद्धार स्वयं करना चाहिए। [भोग-संकल्प-युक्त होकर] वह अपने आप को संसार सागर में गिरने कभी न दे। क्योंकि मन ही अपना अर्थात् आत्मा का मित्र है, और फिर वही मन ही आत्मा का शत्रु है।
५। [विषय-आसक्तीरहित] मनाच्या द्वारे मनुष्याने स्वतःचा उद्धार स्वतःच करावा. [भोग-संकल्पाने युक्त होऊन] त्याने स्वतःला संसार सागरात कधीही पडू देऊ नये. कारण मन हेच स्वतःचा अर्थात आत्म्याचा मित्र आहे, आणि तेच मन आत्म्याचा शत्रूही आहे.
५. [विषय-आसक्तीपासून मुक्त] मनाच्या साहाय्याने मनुष्याने स्वतःच आपला उद्धार करावा. [भोग-संकल्पांनी ग्रस्त होऊन] त्याने स्वतःला कधीही संसारसागरात पडू देऊ नये. कारण मनच आपला अर्थात आत्म्याचा मित्र आहे, आणि तेच मन आत्म्याचा शत्रू देखील आहे.

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत्॥6॥
6। जिसने अपने मन को जीत लिया है, उसका वह मन ही उसका बन्धु है और अजितेन्द्रिय व्यक्ति के लिए वह मन ही शत्रु के समान अपकारक के रूप में विद्यमान रहता है।

६। ज्याने आपल्या मनावर विजय मिळवला आहे, त्याचे तेच
मन त्याचा बंधू आहे, आणि अजितेन्द्रिय (जितेन्द्रिय नसलेल्या) व्यक्तीसाठी तेच मन शत्रूप्रमाणे अपकार करणारे ठरते.
६। ज्या व्यक्तीने आपल्या मनावर विजय मिळवला आहे, त्या व्यक्तीचे मन तिचे बंधू (मित्र) आहे आणि जिच्या इंद्रियांचे दमन झालेले नाही अशा अजितेन्द्रिय व्यक्तीसाठी तेच मन शत्रूप्रमाणे अपकार करणारे ठरते.

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः। शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥7॥
7। [योगारूढ़ व्यक्ति के गुण—] जिस व्यक्ति ने अपने मन
को जीत लिया है, वह सर्दी-गर्मी, सुख-दुख, मान-अपमान—सभी अवस्थाओं में प्रशान्त रहता है; इस प्रकार वह आत्म-स्वरूप में समाहित अर्थात् समाधि में स्थित हो जाता है।
७। [योगारूढ व्यक्तीचे गुण—] ज्या व्यक्तीने आपल्या मनावर विजय मिळवला आहे, ती सर्दी-उष्णता, सुख-दुःख, मान-अपमान या सर्व अवस्थांमध्ये प्रशांत राहते; अशा प्रकारे ती आत्मस्वरूपात समाहित (स्थापित) होते म्हणजेच समाधीत स्थित होते.

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥8॥
8। जो ज्ञान और विज्ञान (अनुभूति-युक्त ज्ञान) से तृप्त है, जो ‘कूटस्थ’ है (सर्वदा एक चिद् स्वभाव में अवस्थित है अर्थात् जो तत्त्व-ज्ञान की जड़ में पहुँचकर इन्द्रियों को जीत चुका है), जो मिट्टी, पत्थर और सोने को एक-सा ही समझता है — वह ‘योगारूढ़’ योगी है अर्थात् सिद्ध-अवस्था को पहुँच गया है, ऐसा कहा जाता है।
८। जो ज्ञान आणि विज्ञान (अनुभूतीयुक्त ज्ञान) याने तृप्त आहे, जो ‘कूटस्थ’ आहे (सदैव एका चिद् स्वभावात अवस्थित आहे म्हणजेच ज्याने तत्त्वज्ञानाच्या मुळापर्यंत पोहोचून इंद्रियांवर विजय मिळवला आहे), जो माती, दगड आणि सोने यांना समानच गणतो—तो ‘योगारूढ’ योगी आहे म्हणजेच तो सिद्धावस्थेला पोहोचला आहे, असे म्हटले जाते.

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥9॥
9। [किन्तु] जो सुहृत् (स्वभाव से हितैषी), मित्र, शत्रु, उदासीन (विवादी पक्षों की उपेक्षा करने वाला), मध्यस्थ (दोनों पक्षों की भलाई चाहने वाला), द्वेष करने योग्य, बन्धु, साधु और पापी—सबके प्रति समान भाव रखता है, वह मनुष्य अतिश्रेष्ठ है।
९. [परंतु] जो सुहृद (स्वभावतः हितचिंतक), मित्र, शत्रू, उदासीन (वाद करणाऱ्या सर्व पक्षांची उपेक्षा करणारा), मध्यस्थ (दोन्ही पक्षांचे कल्याण इच्छिणारा), द्वेषार्ह (द्वेष करण्यास योग्य) मनुष्य, बांधव, साधू आणि पापी—या सर्वांप्रती समान भाव ठेवतो, तो मनुष्य अतिश्रेष्ठ आहे.
९. जो मनुष्य सुहृद (स्वभावतः हितचिंतक), मित्र, शत्रू, उदासीन (वादविवादातील दोन्हीं पक्षांची उपेक्षा करून तटस्थ राहाणारी व्यक्ती), मध्यस्थ (दोन्ही पक्षांची भल्याची इच्छा करणारी व्यक्ती), द्वेषपात्र (द्वेष करण्यास योग्य) व्यक्ती, बंधू, साधू आणि पापी—या सर्वांकडे समभावाने पाहतो, तो मनुष्य अत्यंत श्रेष्ठ मानला जातो.

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥10॥
10। [अष्टांग योग में योग-प्रणाली] योगारूढ़ व्यक्ति सदा एकान्त में अकेला बैठकर, मन और इन्द्रियों को वशीभूत करके, जड़ कामना (आशा और भोग सामग्री जुटाने की भावना) से रहित होकर एवं इन्द्रियों द्वारा कुछ ग्रहण नहीं करके लगातार मन को समाधि युक्त करे।
१०। [अष्टांग योगातील योग-प्रणाली] योगारूढ व्यक्तीने नेहमी एकांतात एकटे बसून, मन आणि इंद्रियांना वशीभूत करून, जड (भौतिक) कामनेपासून (आशा आणि भोगसामग्री जमवण्याच्या भावनेपासून) मुक्त होऊन तसेच इंद्रियांद्वारे काहीही ग्रहण न करता सतत मनाला समाधीयुक्त करावे.

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम्॥11॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥12॥
11-12। [आसन कैसा होगा, सुनो,] योगाभ्यास करने वाला किसी पवित्र स्थान पर अपने आसन को लगाए। यह आसन न बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा हो। इस प्रकार निश्चल भाव से अपना आसन लगाकर इस पर क्रमशः कुशा का आसन, इसके बाद मृगछाल का आसन एवं सबसे ऊपर वस्त्र का आसन बिछाये। उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके, चित्त तथा इन्द्रियों की चेष्टाओं को वश में करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे।
११-१२। [आसन कसे असावे, ऐक,] योगाभ्यास करणाऱ्याने एखाद्या पवित्र स्थानी आपले आसन मांडावे. हे आसन फार उंच नसावे, तसेच फार सखलही नसावे. अशा प्रकारे निश्चल भावाने आपले आसन मांडून त्यावर क्रमाने कुशाचे (दर्भाचे) आसन, त्यानंतर मृगाजिनाचे आसन व सर्वांत वर वस्त्राचे आसन अंथरावे. त्या आसनावर बसून मन एकाग्र करून, चित्त आणि इंद्रियांच्या क्रिया वश करून अंतःकरणाच्या शुद्धीसाठी योगाचा अभ्यास करावा.
११–१२. [आसन कसे असावे, ते ऐक—] योगाभ्यास करणाऱ्या साधकाने एखाद्या पवित्र स्थळी आपले आसन तयार करावे. ते आसन न खूप उंच असावे, न खूप खाली असावे. असे स्थिरपणे आसन ठेवल्यावर त्यावर प्रथम कुशाचे आसन, त्यावर मृगचर्म, आणि सर्वात वर वस्त्राचे आसन अंथरावे. त्या आसनावर बसून मनाला एकाग्र करून, चित्त आणि इंद्रियांच्या कृतींना वश करून, अंतःकरणशुद्धीसाठी योगाभ्यास करावा.

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥13॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः॥14॥
13-14। [शरीर-धारण तथा ध्यान-विधि] शरीर, मस्तक, और गर्दन को एक सीध में बिना हिले-जुले रखकर, इधर-उधर कुछ भी न देखता हुआ अपनी नाक की नोक पर दृष्टि केन्द्रित करे। इस प्रकार निर्भय और शान्त रहता हुआ तथा ब्रह्मचर्य व्रत में

दृढ़ होकर मन को सभी बाहरी विषयों से हटाकर, चित्त को मुझमें स्थापित करके (अर्थात् मेरे चतुर्भुज-रूप में निविष्ट होकर) तथा मेरे प्रति भक्ति परायण होकर योगाभ्यास करे।
१३-१४। [शरीर-धारणा तथा ध्यान-विधी] शरीर, मस्तक आणि मान एका सरळ रेषेत न हलता ठेवून, इकडे-तिकडे काहीही न पाहता आपली दृष्टी नाकाच्या टोकावर केंद्रित करावी. अशा प्रकारे निर्भय व शांत राहून तसेच ब्रह्मचर्य व्रतात दृढ होऊन मनाला सर्व बाह्य विषयांपासून परावृत्त करून, चित्त माझ्यात स्थापन करून (अर्थात माझ्या चतुर्भुज रूपात चित्त स्थिर करून) आणि माझ्याविषयी भक्तिपरायण होऊन योगाभ्यास करावा.
१३–१४. [शरीर-धारण तथा ध्यान-विधी] शरीर, मस्तक आणि मान यांना एक सरळ रेषेत स्थिर ठेवून, इकडे-तिकडे न पाहता आपल्या नाकाच्या टोकावर दृष्टी केंद्रित करावी; अशा प्रकारे निर्भय आणि शांत राहून, ब्रह्मचर्यव्रतामध्ये दृढ राहून, मनाला सर्व बाह्य विषयांपासून हटवून, चित्ताला माझ्यात स्थापित करून (म्हणजे माझ्या चतुर्भुज रूपात चित्त स्थिर करून) आणि माझ्याप्रति भक्तिभाव जोपासून योगाभ्यास करावा. युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥15॥
15। [योग साधन का फल] इस प्रकार योगाभ्यास जारी रखने से अर्थात् सर्वदा मन को मेरे साथ युक्त करते रहने से मुझमें ही उसका मन निश्चल (स्थिर) हो जाता है; तब उसे मेरे अधीन परम निर्वाण-रूपी मोक्ष की प्राप्ति होती है।
१५. [योगसाधनेचे फळ] अशा प्रकारे योगाभ्यास चालू ठेवल्याने, अर्थात सर्वदा मन माझ्याशी युक्त ठेवल्याने, माझ्या ठायीच त्याचे मन निश्चल (स्थिर) होते; तेव्हा त्याला माझ्या अधीन असणाऱ्या परम निर्वाणरूपी मोक्षाची प्राप्ती होते.

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥16॥
16। [योगसाधन के प्रतिकूल] हे अर्जुन! यह योग न अधिक भोजन करने वाले को, न बहुत कम खाने वाले को, न अधिक सोने वाले को और न अधिक जागने वाले व्यक्ति को सिद्ध होता है।

१६. [योगसाधनेसाठी प्रतिकूल] हे अर्जुन, हा योग त्या व्यक्तीस सिद्ध होत नाही—जी खूप भोजन करते, जी खूप कमी खाते, जी खूप झोपते किंवा जी खूप जागी राहते (किंवा जाग्रण करते).

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥17॥
17। [योगसाधन के अनुकूल] नियमित आहार-विहार करने वाले, जीवन-निर्वाह के लिए कर्मों में यथावश्यक चेष्टा करने वाले, संतुलित ढंग से सोने और जागने वाले आचणशील व्यक्ति के लिए योग साधना सम्भव है; यह योग उनके सब दुःखों को हर लेता है।
१७. [योगसाधनेसाठी अनुकूल] नियमित आहार-विहार करणाऱ्या, जीवननिर्वाहासाठी आवश्यक तेवढेच कर्म करणाऱ्या आणि झोप-जागरण यात संतुलन ठेवणाऱ्या आचरणशील व्यक्तीसाठी योगसाधना शक्य होते; असा योग तिच्या सर्व दुःखांचा नाश करतो.
१७। [योगसाधनेसाठी अनुकूल] नियमित आहार-विहार करणाऱ्या, जीवननिर्वाहासाठी कर्मांमध्ये यथावश्यक प्रयत्न करणाऱ्या, संतुलित रीतीने झोपणाऱ्या आणि जागणाऱ्या आचरणशील व्यक्तीसाठी योगसाधना शक्य आहे; हा योग तिची सर्व दुःखे हरण करतो.

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥18॥
18। जिसका चित्त बाहरी विषयों से सम्पूर्ण रूप में निवृत्त होकर आत्मा में ही (या परमात्मा में ही) भली प्रकार स्थिर हो जाता है तथा सब प्रकार की कामनाओं को त्यागकर निःस्पृह हो जाता है, तब उस पुरुष को ‘योगी है’, ऐसा कहा जाता है।
१८. ज्या पुरुषाचे चित्त बाह्य विषयांपासून संपूर्णपणे निवृत्त होऊन आत्म्यात (किंवा परमात्म्यात) दृढपणे स्थिर होते आणि जो सर्व प्रकारच्या कामनांचा त्याग करून निःस्पृह होतो, तेव्हा तो ‘योगी आहे’ असे म्हटले जाते.
१८। ज्या पुरुषाचे चित्त बाह्य विषयांपासून संपूर्णपणे निवृत्त होऊन आत्म्यामध्येच (किंवा परमात्म्यामध्येच) चांगल्या प्रकारे स्थिर होते तसेच सर्व प्रकारच्या कामनांचा त्याग करून जो निःस्पृह होतो, तेव्हा तो ‘योगी आहे’, असे म्हटले जाते.

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥19॥
19। वायु-रहित स्थान में दीपक जैसे अचल रहता है, ठीक वही उपमा मन को वश में करके परमात्मा के ध्यान में रत योगी के लिए दी जाती है।
१९. वारा नसलेल्या स्थळी दिवा जसा अचल राहतो, तशीच उपमा
मन वश करून परमात्म्याच्या ध्यानात रमणाऱ्या योगीला दिली जाते.
१९। जेथे वारा वाहात नाही आहे अशा स्थानी पेटवलेल्या तेलाच्या पणतीची ज्योत न हलता किंवा विझता पेटलेलीच राहाते, तशाच स्थिर पणतीची उपमा स्वतःच्या मनाला वश करून परमात्म्याच्या ध्यानात मग्न झालेल्या योगी-पुरुषाला दिली जाते.
१९। ज्या स्थानी वारा वाहत नाही, तेथे पेटवलेल्या तेलाच्या दिव्याची ज्योत न हलता स्थिर राहते. त्याच स्थिर ज्योतीची उपमा स्वतःचे मन वश करून परमात्म्याच्या ध्यानात मग्न झालेल्या योगीपुरुषाला दिली जाते.

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥20॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥21॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥22॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥23॥
20-23। जिस अवस्था में योग के अभ्यास से वश में किया हुआ चित्त जड़ विषयों से विमुख होकर शान्त हो जाता है और आत्मा में ही परमात्मा का दर्शन कर संतुष्ट रहता है; केवल बुद्धि से समझने योग्य, इन्द्रियों से अगम्य, जो चरम सुख है उसका अनुभव करता है; जिस अवस्था में योगी का चित्त अन्य तत्त्वों से विचलित नहीं होता; जिसे (आत्मसुख को) पा लेने के बाद दूसरा कोई लाभ इससे श्रेष्ठ नहीं लगता; जिस अवस्था में स्थित होने से भारी से भारी दुःख भी विचलित नहीं कर पाता, उसे सब प्रकार के सुख-दुःख के स्पर्श से रहित ‘योग’ जानना चाहिए। इस योग को धैर्य धारण करते हुए उत्साह भरे मन से निश्चय के साथ करना चाहिए।

२०-२३। ज्या अवस्थेत योगाच्या अभ्यासाने वश केलेले चित्त जड (भौतिक) विषयांपासून परावृत्त होऊन शांत होते आणि आत्म्यामध्येच परमात्म्याचे दर्शन घेऊन संतुष्ट राहते; केवळ बुद्धीने समजण्यासारखे, इंद्रियांना अगम्य असे जे परम सुख आहे त्याचा अनुभव करते; ज्या अवस्थेत योगीपुरुषाचे चित्त इतर तत्त्वांनी विचलित होत नाही; जे (आत्मसुख) प्राप्त केल्यानंतर दुसरा कोणताही लाभ यापेक्षा श्रेष्ठ वाटत नाही; ज्या अवस्थेत स्थित झाल्यावर मोठ्यात मोठे दुःखही विचलित करू शकत नाही, त्या अवस्थेला सर्व प्रकारच्या सुख-दुःखाच्या स्पर्शापासून मुक्त असा ‘योग’ जाणावे. हा योग धैर्य धारण करून उत्साहपूर्ण मनाने निश्चयपूर्वक करावा.

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः। मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥24॥
24। भोग-संकल्प अर्थात् विषयों के चिन्तन से उत्पन्न होने वाली सब विषय-वासनाओं को सम्पूर्ण-रूप से त्यागकर और मन से ही समस्त इन्द्रियों को सब ओर से संयत करके, साधु- शास्त्र के उपदेश अनुसार योगसाधन करना चाहिए।
२४। भोगसंकल्प म्हणजेच विषयांच्या चिंतनातून उत्पन्न होणाऱ्या सर्व विषयवासनांचा संपूर्णपणे त्याग करून आणि मनानेच सर्व इंद्रियांना सर्व बाजूंनी संयमित (नियंत्रित) करून, साधु-शास्त्राच्या उपदेशानुसार योगसाधना केली पाहिजे.

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥25॥
25। ‘धृति’ (अर्थात् अष्टांग योग का एक अंग जो ‘धारणा’ है, उस) से गृहीत बुद्धि अर्थात् धैर्य-युक्त बुद्धि के द्वारा मन को आत्मा में स्थिर करके, आत्मा के अलावा कोई भी विचार मन में न आने दे—इसका धीरे-धीरे अभ्यास करना चाहिए।
२५. ‘धृती’ने (म्हणजेच अष्टांग योगातील ‘धारणा’ या अंगाने) प्राप्त झालेल्या धैर्ययुक्त बुद्धीने मनाला आत्म्यात स्थिर करून, आत्म्याशिवाय दुसरा कोणताही विचार मनात येऊ न देणे—याचा हळूहळू अभ्यास करावा.

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥26॥
26। मन स्वभाविक ही चंचल और अस्थिर है; अतः योगसाधन के समय वह जिधर-जिधर भी दौड़े, उधर-उधर से उसे हटाकर केवल आत्मा के ही अधीन कर दे।
२६। मन स्वभावतःच चंचल आणि अस्थिर आहे; म्हणून योगसाधनेच्या वेळी ते जिकडे-जिकडे धावेल, तिकडून-तिकडून त्याला परतवून केवळ आत्म्याच्याच अधीन करावे.

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥27॥
27। [इस प्रकार मन आत्मा के वशीभूत होने से] योगसाधक का चित्त शान्त हो जाता है; चित्त-विक्षेपक रजोगुण दूर होने पर शान्त होता है; तब वह ‘अकल्मष’ (पाप रहित) होकर ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त करता है,—फलस्वरूप उसे उत्तम सुख प्राप्त होता है।
२७। [अशा प्रकारे मन आत्म्याच्या अधीन झाल्यावर] योगसाधकाचे चित्त शांत होते; चित्ताला विचलित करणारा रजोगुण दूर झाल्यावर ते शांत होते; तेव्हा तो योगसाधक ‘अकल्मष’ (पापरहित) होऊन ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त करतो— आणि परिणामी त्याला उत्तम सुख प्राप्त होते.
२७। [अशा प्रकारे मन आत्म्याच्या वश झाल्याने] योगसाधकाचे चित्त शांत होते; चित्ताला विक्षेप करणारा रजोगुण दूर झाल्यावर ते शांत होते; तेव्हा तो योगसाधक ‘अकल्मष’ (पापरहित) होऊन ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त करतो,— परिणामी त्याला उत्तम सुख प्राप्त होते.

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥28॥
28। इस प्रकार निरन्तर मन को योग-युक्त करके रखने पर निष्पाप योगी अनायास ही ब्रह्म-साक्षात्कार लाभ करता है और परम सुख का उपभोग करता है।
२८। अशा प्रकारे मनाला निरंतर योगयुक्त ठेवल्याने निष्पाप योगी सहजच ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त करतो आणि परम सुखाचा उपभोग घेतो.

२८। अशा प्रकारे सतत मनाला योगयुक्त ठेवून, निष्पाप योगी सहजच ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त करतो आणि परमसुखाचा उपभोग करतो.

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥29॥
29। योग-युक्त व्यक्ति सर्वत्र समभाव से देखता है; वह
सब प्राणियों में अवस्थित परमात्मा को और उसी प्रकार सब प्राणियों को परमात्मा में देखता है।
२९। योगयुक्त व्यक्ती सर्वत्र समभावाने पाहते; ती सर्व प्राणिमात्रांमध्ये स्थित असलेल्या परमात्म्याचे दर्शन करते आणि त्याचप्रमाणे सर्व प्राणिमात्रांना परमात्म्यामध्ये पाहते.
२९। योगयुक्त व्यक्ती सर्वत्र समभावाने पाहते; ती सर्व प्राण्यांमध्ये अवस्थित परमात्म्याचे दर्शन करते आणि त्याचप्रमाणे सर्व प्राण्यांना परमात्म्यात पाहते.

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥30॥
30। जो सब प्राणियों में मुझे देखता है और सब कुछ को मुझमें देखता है—उसके लिए मैं कभी ओझल नहीं होता और न ही वह कभी मेरे लिए अदृश्य होता है।
३०। जो सर्व प्राणिमात्रांमध्ये मला पाहतो आणि सर्व काही माझ्यामध्ये पाहतो—मी कधीही त्याच्या नजरेसमोरून नाहीसा होत नाही आणि तोही माझ्यासाठी कधी अदृश्य होत नाही.
३०। जो सर्व प्राणिमात्रांमध्ये मला पाहतो आणि सर्व काही माझ्यामध्ये पाहतो—त्याच्यासाठी मी कधीही अदृश्य होत नाही आणि तोही माझ्यासाठी कधी अदृश्य होत नाही.

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते॥31॥
31। सब जीवों के हृदय में अवस्थित मैं स्वरूपतः एक हूँ
— इस प्रकार के विचार में अवस्थित होकर जो मेरा भजन करता है, वह किसी भी अवस्था में स्थित क्यों न रहे, वास्तव में

[illegible]

[illegible]

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥32॥
32। हे अर्जुन! जो योगी सभी प्राणियों के सुख-दुःख को अपने सुख-दुख के समान समझता है (अर्थात् केवल अपना हित नहीं, बल्कि सभी प्राणियों के हित में लगा हुआ है), वही श्रेष्ठ है—यही मेरा मत है।
३२। हे अर्जुन! जो योगी सर्व प्राण्यांचे सुख-दुःख स्वतःच्या सुख-दुःखासमान मानतो (म्हणजेच केवळ स्वतःचे हित न पाहता सर्व प्राण्यांच्या हितासाठी झटतो), तोच श्रेष्ठ आहे—हेच माझे मत आहे.

अर्जुन उवाच—
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥33॥
33। अर्जुन ने कहा,—हे मधुसूदन! आप जिस योग की बात कह रहे हैं, उसमें समबुद्धि के साथ किस प्रकार हमेशा के लिए स्थित हुआ जा सकता है—समझ नहीं पा रहा हूँ, क्योंकि मन बहुत चंचल है।
३३। अर्जुन म्हणाला,—हे मधुसूदन! आपण ज्या योगाविषयी सांगत आहात, त्यामध्ये समबुद्धीने कायमचे कसे स्थित राहता येईल—हे मला समजत नाही, कारण मन अत्यंत चंचल आहे.

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥34॥
34। मन स्वभाव से ही बहुत चंचल होता है, यहाँ तक कि, वह बुद्धि में भी क्षोभ उत्पन्न करने में समर्थ है, इस पर वह बलवान् और दृढ़ है। इसलिए हे कृष्ण! इस प्रकार के मन को नियंत्रित करना मैं वायु को वश में करने के समान ही अत्यन्त कठिन समझता हूँ।
३४। मन स्वभावतःच अत्यंत चंचल आहे, इतकेच नव्हे तर ते बुद्धीतही क्षोभ निर्माण करण्यास समर्थ आहे, शिवाय ते बलवान आणि दृढही आहे. म्हणून हे कृष्ण! अशा प्रकारच्या मनावर नियंत्रण ठेवणे हे मी वाहत्या वाऱ्याला वश करण्याइतकेच अत्यंत कठीण समजतो.
३४। मन स्वभावतःच अत्यंत चंचल असते, इतकेच काय, ते

बुद्धीलाही क्षुब्ध करण्यास समर्थ आहे, शिवाय ते बलवान आणि दृढ आहे. म्हणून हे कृष्ण! अशा प्रकारच्या मनाला नियंत्रित करणे मी वाहत्या वाऱ्याला वश करण्यासारखेच अत्यंत कठीण मानतो.

श्रीभगवानुवाच—
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥35॥
35। श्रीभगवान् ने कहा, हे महावीर! इसमें कोई संदेह नहीं कि, मन चंचल है और सहज वश में होने वाला नहीं है। किन्तु हे कौन्तेय! सर्वदा मेरे साथ योग-साधन का अभ्यास तथा जो उसके प्रतिकूल है उसका त्याग रूपी वैराग्य—एक ही साथ दोनों के अभ्यास से यह मन भी वश में हो जाता है।
३५। श्रीभगवान म्हणाले, हे महावीर! यात काही संशय नाही की, मन चंचल आहे आणि सहजासहजी वश होणारे नाही. परंतु हे कौंतेय! नेहमी माझ्यासोबत योगसाधनेचा अभ्यास आणि जे त्या योगसाधनेच्या प्रतिकूल आहे त्याचा त्यागरूपी वैराग्य—या दोन्हींचा एकाच वेळी अभ्यास केल्याने हे मनदेखील वश होते. असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः। वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥36॥
36। अवशीभूत मन वाले व्यक्ति के लिए योग दुर्लभ है, किन्तु साधन के द्वारा मन को वश में करने का प्रयास करने वाला व्यक्ति इस योग को प्राप्त कर सकता है—यही मेरा विचार है।
३६। ज्याचे मन वश झालेले नाही अशा व्यक्तीसाठी योग दुर्लभ आहे, परंतु साधनेद्वारे मनाला वश करण्याचा प्रयत्न करणारी व्यक्ती हा योग प्राप्त करू शकते—असेच माझे मत आहे.

अर्जुन उवाच—
अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥37॥
37। अर्जुन ने कहा,—[यदि ऐसा हो कि,] कोई व्यक्ति पहले श्रद्धा सहित योगसाधन में प्रवृत्त हुआ हो किन्तु बाद में यत्न (अभ्यास एवं वैराग्य) की शिथिलता के कारण उसका मन योग

से भ्रष्ट हो गया हो, उस अवस्था में हे कृष्ण! उस व्यक्ति को योग-सिद्धि नहीं प्राप्त होकर कौनसी गति प्राप्त होगी?।
३७। अर्जुन म्हणाला,—[जर असे झाले की,] एखादी व्यक्ती आधी श्रद्धेने योगसाधनेत प्रवृत्त झाली असेल परंतु नंतर प्रयत्न (अभ्यास व वैराग्य) शिथिल झाल्यामुळे तिचे मन योगापासून भ्रष्ट झाले असेल, तर अशा अवस्थेत हे कृष्ण! त्या व्यक्तीला योगसिद्धी प्राप्त न झाल्यास कोणती गती प्राप्त होईल?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति। अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥38॥
38। हे महाबाहो! ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में स्थिर न
हो सकने के कारण, वह मूर्ख कहीं दोनों [सकाम-कर्ममार्ग और योगमार्ग] से भ्रष्ट हो जाने के फलस्वरूप छिन्न-भिन्न हुए मेघों की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता?
३८। हे महाबाहो! ब्रह्मप्राप्तीच्या मार्गावर स्थिर न राहू शकल्यामुळे, तो मूर्ख कुठे [सकाम-कर्ममार्ग आणि योगमार्ग या] दोन्ही मार्गांपासून भ्रष्ट होऊन छिन्न-भिन्न झालेल्या मेघांप्रमाणे (विखुरलेल्या ढगांप्रमाणे) नष्ट तर होत नाही ना?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥39॥
39। हे कृष्ण! मेरे इस संशय को पूरी तरह से दूर करने में केवल आप ही समर्थ हैं—आपके अलावा कोई दूसरा इस संशय का छेदन करने वाला निश्चय ही नहीं हो सकता।
३९। हे कृष्ण! माझा हा संशय पूर्णपणे दूर करण्यास केवळ आपणच समर्थ आहात—आपल्याशिवाय दुसरा कोणीही या संशयाचे निरसन करणारा निश्चितच असू शकत नाही.

श्रीभगवानुवाच—
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥40॥
40। श्रीभगवान् ने कहा,—हे पार्थ! योगभ्रष्ट होने पर
भी उस पुरुष का न इस लोक में और न परलोक में नाश होता है; क्योंकि हे वत्स! परम कल्याण प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति की कभी भी दुर्गति नहीं होती।
४०। श्रीभगवान म्हणाले—हे पार्थ! योगभ्रष्ट झालेल्या त्या पुरुषाचा ना या लोकात (इहलोकात) नाश होतो, ना परलोकात. कारण, हे वत्स! परम-कल्याण प्राप्तीची इच्छा करणाऱ्या व्यक्तीची कधीही दुर्गती होत नाही.
४०। श्रीभगवान म्हणाले,—हे पार्थ! योगभ्रष्ट झाला तरी त्या पुरुषाचा या लोकीही नाश होत नाही आणि परलोकीही नाश होत नाही; कारण हे वत्स! परम-कल्याण प्राप्तीची इच्छा करणाऱ्या व्यक्तीची कधीही दुर्गती होत नाही.

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥41॥
41। [कुछ समय योगाभ्यास करके भ्रष्ट होने पर] योगभ्रष्ट व्यक्ति सकाम पुण्यवान् लोगों को प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि लोक प्राप्त करता है एवं वहाँ बहुत वर्षों तक निवास कर वह सदाचारी धनवानों के घर में जन्म ग्रहण करता है।
४१। [काही काळ योगाभ्यास करून भ्रष्ट झाल्यावर] योगभ्रष्ट व्यक्ती सकाम पुण्यवान लोकांना मिळणारे स्वर्ग इत्यादी लोक प्राप्त करते आणि तिथे अनेक वर्षे निवास करून ती सदाचारी धनवानांच्या घरी जन्म घेते.

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्। एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥42॥
42। अथवा, [दीर्घकाल तक योगाभ्यास करके भ्रष्ट होने पर]
वह तत्त्वज्ञान-सम्पन्न योगियों के वंश में जन्म ग्रहण करता है। इस प्रकार का जन्म, निःसन्देह इस जगत में बहुत दुर्लभ है।
४२। अथवा, [दीर्घकाळ योगाभ्यास करून भ्रष्ट झाल्यावर]
ती व्यक्ती तत्त्वज्ञानसंपन्न योगीजनांच्या कुळात जन्म

घेते. या प्रकारचा जन्म, निःसंशय या जगात अत्यंत दुर्लभ आहे.

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥43॥
43। हे कुरुनन्दन! [अब दोनों ही प्रकार से योग-भ्रष्ट व्यक्ति] वहाँ जन्म ग्रहण करके पूर्व जन्म में पाये उस योगसाधन-परक बुद्धि का संयोग प्राप्त करते हैं एवं पहले की अपेक्षा अधिक भाव से सिद्धि प्राप्त करने के लिए यत्न करते हैं।
४३। हे कुरुनंदन! [आता दोन्हीही प्रकारांनी योगभ्रष्ट झालेली व्यक्ती] तेथे जन्म घेऊन पूर्वजन्मात प्राप्त केलेल्या त्या योगसाधनपर बुद्धीशी संयोग पावते आणि आधीपेक्षा अधिक भावाने सिद्धी प्राप्त करण्यासाठी प्रयत्न करते.

पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते ह्यवशोऽपि सः। जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते॥44॥

44। पूर्वजन्म के उस अभ्यास के कारण किसी विघ्न के उपस्थित होने पर भी वह योगसाधन के प्रति आकृष्ट हो जाता है। ‘योग’ के विषय में जानने की इच्छा होने पर भी वह वेदों में कथित सकाम-कर्ममार्ग की कथा का अतिक्रमण कर देता है (अर्थात् उस विषय में रुचि के अभाव के कारण जिज्ञासु नहीं होता)।
४४। पूर्वजन्माच्या त्या अभ्यासामुळे कोणतेही विघ्न आले तरी ती व्यक्ती योगसाधनेकडे आकर्षित होते. ‘योग’ हा विषय जाणून घेण्याची इच्छा झाल्यावरही ती वेदांमध्ये सांगितलेल्या सकाम कर्ममार्गाच्या कथेचे उल्लंघन करते (म्हणजेच त्या विषयात रुची नसल्यामुळे जिज्ञासू होत नाही).

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥45॥
45। अत्यन्त यत्न के साथ अनेक जन्मों तक योग-अभ्यास करके वह योगी सभी दोषों के धुलने पर सिद्धि प्राप्त करता है और अन्त में उत्तम गति रूपी मोक्ष को प्राप्त करता है॥45॥
४५। अत्यंत प्रयत्नपूर्वक अनेक जन्मांपर्यंत योगाभ्यास करून तो योगी सर्व दोष धुऊन गेल्यावर सिद्धी प्राप्त करतो आणि शेवटी उत्तम गतीरूपी मोक्ष प्राप्त करतो ॥४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥46॥

46। परमात्मा की उपासना करने वाला योगी पुरुष कष्टदायक साधन करने वाले तपस्वी की अपेक्षा श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञान में पंडित (ब्रह्म के उपासक) से भी वह श्रेष्ठ है। सकाम कर्मियों की अपेक्षा भी योगी श्रेष्ठ है। (अर्थात् तपस्या, ज्ञान या कर्म योगहीन होने पर वह परमार्थ-साधक नहीं होते, इसलिए निरर्थक होते हैं); अतः हे अर्जुन, तुम योगी बनो।
४६। परमात्म्याची उपासना करणारा योगी पुरुष कष्टदायक साधना करणाऱ्या तपस्व्यापेक्षा श्रेष्ठ आहे, शास्त्रज्ञानात पंडित (ब्रह्मोपासक, ब्रह्माचा उपासक) असलेल्यापेक्षाही तो श्रेष्ठ आहे. सकाम कर्म करणाऱ्यांपेक्षाही (सकाम कर्मींपेक्षाही) योगी श्रेष्ठ आहे. (अर्थात तपस्या, ज्ञान किंवा कर्म हे योगहीन असल्यास परमार्थ साधणारे होत नाहीत, म्हणून निरर्थक ठरतात); म्हणून हे अर्जुन, तू योगी हो.

सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥47॥
47। [भक्तियोगी सर्वश्रेष्ठ हैं—] पुनः सब प्रकार के योगियों में मैं उन्हें ही उत्तम योगी मानता हूँ, जो मुझमें दृढ़ विश्वास युक्त होकर, मुझमें मन को आसक्त करके निरन्तर मेरा भजन करते हैं—यही मेरा मत है।
47> [भक्तियोगी सर्वश्रेष्ठ आहेत—] पुन्हा सर्व प्रकारच्या योगींमध्ये मी त्यांनाच उत्तम योगी मानतो, जे माझ्यावर दृढ विश्वास ठेवून, माझ्या ठायी मन आसक्त करून निरंतर माझे भजन करतात—हेच माझे मत आहे.

इति ‘ध्यानयोगो’ नाम षष्ठोऽध्यायः॥
इति षष्ठ अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
इति षष्ठ (सहाव्या) अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.

Checked

सप्तमोऽध्यायः
ज्ञानविज्ञानयोगः
श्रीभगवानुवाच—
मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्र मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥1॥
1। श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ! मेरे में मन लगाकर और मेरे ही शरणागत होकर भक्तियोग का आचरण करते हुए तुम जिस प्रकार मुझे संशयरहित होकर पूर्ण रूप से जानोगे, उसे श्रवण करो।
1। श्रीभगवान म्हणाले, हे पार्थ! माझ्या ठायी मन लावून आणि मलाच शरण येऊन भक्तियोगाचे आचरण करीत असताना तू ज्या प्रकारे मला संशयरहित होऊन पूर्ण रूपाने जाणशील, ते श्रवण कर.

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते॥2॥
2। अर्जुन! मैं तुम्हें विज्ञान-समन्वित (माधुर्य-अनुभव सहित) इस ज्ञान का उपदेश दे रहा हूँ, जो [ज्ञान का समग्र-स्वरूप है, अतएव उसे] जान लेने के बाद संसार में कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता।
2. अर्जुन! मी तुला विज्ञान-समन्वित (माधुर्य-अनुभवासहित) या ज्ञानाचा उपदेश देत आहे, जे [ज्ञानाचे समग्र-स्वरूप आहे, म्हणून ते] जाणल्यानंतर जगात काहीही जाणण्याचे बाकी राहत नाही.

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥3॥
3। [किन्तु इस ज्ञान के पात्र बहुत दुर्लभ हैं, देखो] हज़ारों मनुष्यों में से बहुत कम व्यक्ति आत्म-कल्याण (सिद्धि) के लिए प्रयास करते हैं, और फिर उन प्रयास करने वाले सिद्धों में से भी कोई विरला ही मुझे अर्थात् मेरे भगवत् स्वरूप के तत्त्व को जान पाता है।
३। [परंतु या ज्ञानाचे पात्र फार दुर्मिळ आहेत, पाहा] हजारो मनुष्यांमध्ये फार थोडेच आत्मकल्याण (सिद्धी) साधण्यासाठी प्रयत्न करतात; आणि त्या प्रयत्न करणाऱ्या एखादा विरळाच माझ्या भगवद्स्वरूपाचे तत्त्व जाणतो.

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥4॥
4। [अब मेरी विभिन्न शक्तियों के विषय में संक्षेप में श्रवण करो] मेरी ‘भिन्न प्रकृति’ अर्थात् बहिरंगा-शक्ति (माया-शक्ति)—भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—इन आठ प्रकार के तत्त्वों से युक्त है।
४। [आता माझ्या विविध शक्तींबद्दल थोडक्यात श्रवण कर] माझी ‘भिन्न प्रकृती’ म्हणजे बहिरंगा-शक्ती (माया-शक्ती)— भूमी (माती), जल (पाणी), अग्नी (आग), वायू (हवा), आकाश, मन, बुद्धी आणि अहंकार—या आठ प्रकारच्या तत्त्वांनी युक्त आहे.

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥5॥
5। हे महावीर! यह बहिरंगा शक्ति वस्तुतः ‘अपरा’ (जड़ होने के कारण निकृष्ट) है। इससे अलग मेरी एक और जीवभूता एवं चेतन स्वरूपा ‘परा’ प्रकृति (तटस्था-शक्ति) है, जान लो— जिसके द्वारा यह जगत धारण होता है।
५। हे महावीर! ही बहिरंगा-शक्ती वस्तुतः ‘अपरा’ (जड किंवा भौतिक असल्यामुळे निकृष्ट) आहे. यापासून वेगळी माझी एक जीवभूता व चेतनस्वरूपा ‘परा’ प्रकृती (तटस्था-शक्ती) आहे — जिच्या द्वारे हे जग धारण केले गेले आहे, हे जाणून घे.

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥6॥
6। इस जगत में स्थावर-जंगम आदि सभी प्राणियों का कारण मेरी ये दो शक्तियाँ—बहिरंगा ‘अपरा’ शक्ति तथा जीवभूता ‘परा’ शक्ति हैं—इस प्रकार जानो। इसलिए मैं ही सारे जगत की उत्पत्ति तथा संहार का मूल कारण हूँ।
६। या जगतातील स्थावर-जंगम इत्यादी सर्व प्राण्यांचे कारण माझ्या या दोन शक्ती आहेत—बहिरंगा ‘अपरा’ शक्ती आणि जीवभूता ‘परा’ शक्ती. म्हणूनच मीच या संपूर्ण जगाच्या उत्पत्तीचे आणि संहाराचे मूळ कारण आहे, असे जाणून घे.

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥7॥
7। हे धनञ्जय! मेरी अपेक्षा श्रेष्ठ और कोई नहीं है। जिस प्रकार धागे में मणियाँ पिरोयी रहती हैं, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व मुझी में ओतप्रोत भाव से अवस्थित है।
७. हे धनंजय! माझ्यापेक्षा श्रेष्ठ दुसरे कोणीही नाही. ज्याप्रमाणे धाग्यात मणी ओवलेले असतात, त्याप्रमाणे हे संपूर्ण विश्व माझ्याच ठायी ओतप्रोत भावाने स्थित आहे.

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥8॥
8। [अब मेरे पालन-धर्म की कथा सुनो] हे कौन्तेय! मैं जल
का रस हूँ, चन्द्र-सूर्य की प्रभा हूँ; सभी वेदों का मूल जो ‘प्रणव’ (ॐकार) है, वह मैं हूँ, मैं आकाश का शब्द एवं मनुष्यों का पौरुष (उद्यम) हूँ।
८। [आता माझ्या पालनधर्माबद्दलची माहिती ऐक] हे कौन्तेय! मी जलाचा रस (पाण्याची चव) आहे, चंद्र-सूर्याची प्रभा (प्रकाश) आहे; वेदांचे मूळ अर्थात् ‘प्रणव’ (ॐकार) मीच आहे. मी आकाशातील शब्द आहे आणि मनुष्यांचे पौरुष (उद्यम) आहे.

पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥9॥
9। मैं पृथ्वी का पवित्र गंध हूँ, सूर्य का तेज हूँ, सभी प्राणियों का जीवन (आयु) हूँ और तपस्वियों का तप हूँ।

९। मी पृथ्वीचा पवित्र सुगंध आहे, सूर्याचे तेज आहे, सर्व प्राण्यांचे जीवन (आयुष्य) आहे आणि तपस्वी व्यक्तींचा तप आहे.

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥10॥
10। हे पार्थ! मुझे चराचर सभी प्राणियों के सनातन बीज
के रूप में जानो, मैं बुद्धिमानों की बुद्धि तथा तेजस्वियों का तेज हूँ।
१०। हे पार्थ! मला चराचर सर्व प्राण्यांच्या सनातन बीजाच्या रूपात जाण. मी बुद्धिमंतांची बुद्धी आहे आणि तेजस्वी व्यक्तींचे तेज आहे.

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥11॥
11। हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवान् व्यक्ति का क्रोध, आकांक्षा और तृष्णा रहित बल हूँ। सब प्राणियों में धर्म-सम्मत काम (अर्थात् धर्म के विरुद्ध न जाने वाला ‘काम’) भी मैं ही हूँ।
११। हे भरतश्रेष्ठ! मी बलवान व्यक्तीचे क्रोधरहित, आकांक्षारहित व तृष्णारहित बळ आहे. सर्व प्राण्यांमध्ये धर्मसंमत (धर्माची संमती असलेली) कामभावना (म्हणजे धर्माच्या विरुद्ध न जाणारी ‘कामभावना’) मीच आहे.

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥12॥
12। और जो भी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भाव हैं, वे
सब मुझसे ही (अर्थात् मेरी बहिरंगा शक्ति से ही) उत्पन्न हैं। फिर भी मैं उन सब गुणों के अधीन नहीं हूँ, बल्कि वे ही मेरे अधीन हैं।
१२। जे काही सात्त्विक, राजसिक आणि तामसिक भावसमूह आहेत, ते सर्व माझ्यापासूनच (म्हणजे माझ्या बहिरंगा- शक्तीपासूनच) उत्पन्न झालेले आहेत. तरीसुद्धा मी त्या सर्व गुणांच्या अधीन नाही, उलट तेच माझ्या अधीन आहेत.

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥13॥

13। ये सत्त्व, रजः तथा तमः जो तीन गुण हैं—इनके द्वारा ही
यह समग्र जगत् मोहित है। इसलिए इन सब गुणों के अतीत मुझ को जगत्वासी नहीं जान पाते।
१३। हे तीन गुण—सत्त्व, रजः आणि तम—यांच्यामुळेच हे संपूर्ण जग मोहित झालेले आहे. म्हणूनच या सर्व गुणांच्या पलीकडे असलेल्या मला (अविनाशी भगवंतांना) जगातील लोक ओळखू शकत नाहीत.

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥14॥
14। यह अलौकिक, त्रिगुणमयी तथा दुस्तर माया मेरी ही शक्ति है; इसलिए जो एकमात्र मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं, वे ही इस माया से पार हो सकते हैं।
१४। ही अलौकिक, त्रिगुणमयी आणि दुस्तर माया माझीच शक्ती आहे. म्हणून जे एकमेव माझाच आश्रय घेतात, तेच या मायेतून पार होऊ शकतात.

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥15॥
15। मूढ़ (विवेक-शून्य कर्मी), नराधम (मनुष्यों में अधम), माया ने जिनका ज्ञान हर लिया है तथा आसुरिक भाव वाले— ये [चार प्रकार के] दुष्ट लोग मेरे शरणागत नहीं होते (अर्थात् भक्तियोग का सहारा लेकर मेरे तक नहीं पहुँच पाते)।
१५। मूढ (विवेकशून्य कर्मी), नराधम (मनुष्यांमध्ये अधम), ज्यांचे ज्ञान मायेने हिरावून घेतले आहे आणि आसुरी भाव असलेले—हे [चार प्रकारचे] दुष्ट लोक माझ्या शरणागत होत नाहीत (म्हणजे भक्तियोगाचा आधार घेऊन माझ्यापर्यंत पोहोचू शकत नाहीत).

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥16॥
16। हे भरतर्षभ! चार प्रकार के सुकृतिशील व्यक्ति मेरा भजन करते हैं— ‘आर्त’ (अर्थात् दुःख से पीड़ित जैसे गजेन्द्र), ‘जिज्ञासु’ (आत्मतत्त्व-ज्ञान अर्जन में आग्रही जैसे शौनक आदि मुनिगण), ‘अर्थार्थी’ (धन चाहने वाले जैसे

ध्रुव) और ‘ज्ञानी’ (भगवत्-तत्त्व को जानने वाले जैसे शुकदेव आदि)।
१६। हे भरतर्षभ! चार प्रकारच्या सुकृतिशील व्यक्ती माझे भजन करतात—‘आर्त’ (दुःखाने पीडित, जसे गजेन्द्र), ‘जिज्ञासू’ (आत्मतत्त्वज्ञान मिळविण्यास उत्सुक व आग्रही, जसे शौनक व इतर मुनी), ‘अर्थार्थी’ (धनाची इच्छा करणारे, जसे ध्रुव) आणि ‘ज्ञानी’ (भगवत्तत्त्व जाणणारे, जसे शुकदेव इत्यादी).

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥17॥

17। इन सब में ‘ज्ञानी’ ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वो मेरे साथ नित्य योग-युक्त है; [यदि कहो कि, वह ‘योग’ किस प्रकार का है] ‘एकभक्ति’ अर्थात् केवल शुद्ध-भक्ति ही उसका सहारा है; [उसका लक्षण क्या है] उस ज्ञानी को मैं अत्यंत प्रिय होता हूँ, [और उस प्रकार की भक्ति का फल यह है कि,] वो भी मुझे प्रिय होता है।
१७। या सर्वांमध्ये ‘ज्ञानी’ श्रेष्ठ आहे, कारण तो माझ्याशी नित्य योगयुक्त असतो. [जर विचाराल की तो ‘योग’ कसा आहे] तर ‘एकभक्ति’—म्हणजे शुद्ध भक्तीच त्याचा आधार आहे. [त्याचे लक्षण काय] तर त्या ज्ञानीला मी अत्यंत प्रिय असतो, [आणि त्या भक्तीचे फळ असे की] तोही मला प्रिय असतो.

उदाराः सर्वः एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥18॥

18। ये चारों प्रकार के भक्त ही परम उदार होते हैं, किन्तु इनमें से ज्ञानी व्यक्ति ही मुझे सबसे अधिक प्रिय है—यही मेरा मत है। क्योंकि, वह सर्वोत्तम गति के रूप में केवल मेरा ही आश्रय लेकर मुझ में ही स्थित रहता है।
18। हे चारही प्रकारचे भक्त अतिशय उदार असतात, परंतु यांपैकी ज्ञानी व्यक्तीच मला सर्वांत अधिक प्रिय आहे—हेच माझे मत आहे. कारण, ती सर्वोत्तम गतीच्या रूपाने केवळ माझाच आश्रय घेऊन माझ्यातच स्थित राहते.

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥19॥
19। बहुत जन्मों के बाद [शुद्ध भगवत्-ज्ञान प्राप्त होने पर] अर्थात् ‘वासुदेव ही सबकुछ हैं’ यह अनुभव होने पर जीव ज्ञानवान् होते हैं एवं मुझमें ही शरणागत होते हैं। ऐसे महात्मा (महाभागवत) बहुत दुर्लभ हैं जिन्हें सब ओर सर्वान्तर्यामी श्रीवासुदेव का दर्शन प्राप्त होता है। १९> अनेक जन्मांनंतर, शुद्ध भगवद्ज्ञान प्राप्त होते
— म्हणजे ‘वासुदेवच सर्वकाही आहेत’ असा अनुभव होतो—तेव्हा जीव ज्ञानवान होतो आणि माझ्याच चरणी शरणागती पत्करतो. असे महात्मे (महाभागवत भक्तगण), ज्यांना सर्वत्र सर्वान्तर्यामी श्रीवासुदेवांचे दर्शन होते, अत्यंत दुर्लभ असतात.

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥20॥
20। [दूसरी ओर सकाम देवोपासकों के सम्बन्ध में सुनो] धर्म-अर्थ-काम परायण भिन्न-भिन्न काम-वासनाओं से पागल हुए लोग, भिन्न-भिन्न देवताओं की आराधना के व्रतादि नियमों का पालन करके अपने-अपने स्वभाव के अनुसार उन-उन देवताओं को भजते रहते हैं।
20। [दुसरीकडे सकाम देवोपासकांविषयी ऐक] धर्म, अर्थ व काम यांतच रमणारे, निरनिराळ्या काम-वासनांनी वेडे झालेले लोक, भिन्न भिन्न देवीदेवतांच्या आराधनेचे व्रत-नियम पाळून आपापल्या स्वभावानुसार त्या त्या देवीदेवतांची उपासना करतात.

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥21॥
21। जो-जो देवभक्त जिस-जिस देवता या रूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उसकी उसी श्रद्धा को मैं उसी रूप में अन्तर्यामी स्वरूप से स्थिर कर देता हूँ।
२१. जो देवभक्त ज्या देवीदेवतेची किंवा रूपाची श्रद्धेने पूजा करू इच्छितो, त्याची ती श्रद्धा मीच अंतर्यामी स्वरूपाने त्या रूपात स्थिर म्हणजेच दृढ करतो.

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥22॥

22. [redacted]

[redacted]

23. [redacted]

[redacted]

24। [अल्प बुद्धिमत्ता की बात सुन चुके हो, अब बुद्धिहीनता का परिचय सुनो,] जो लोग समझते हैं कि मैं ‘अव्यक्त’ या निराकार हूँ, किसी कार्य-वश ही साकार रूप में प्रकट होता हूँ, वे सब बुद्धिहीन हैं। क्योंकि, वे नहीं जानते कि मेरा ‘भाव’ (अर्थात् सत्ता) माया से परे, नित्य और सर्वोत्तम है।
24। [अल्प बुद्धिमत्तेविषयी ऐकलेस, आता बुद्धिहीनतेचा परिचय ऐक,] जे लोक समजतात की मी ‘अव्यक्त’ म्हणजेच निराकार आहे, एखाद्या कारणास्तवच साकार रूपात प्रकट होतो, ते सर्व बुद्धिहीन आहेत. कारण, त्यांना माहीत नाही की माझा ‘भाव’ म्हणजेच सत्ता मायेच्या पलीकडे, नित्य आणि सर्वोत्तम आहे.

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥25॥
25। मैं स्वयं को योगमाया से ढक कर रखता हूँ—सबके सामने प्रकाशित नहीं होता। इसी कारण अज्ञानी लोग ‘अज’ (अजन्मा) तथा ‘अव्यय’ (नित्य) मुझे नहीं जान पाते (अर्थात् मेरे अविनाशी स्वरूप को मातृगर्भ से उत्पन्न समझकर पाँचभौतिक-ज्ञान में नश्वर मानकर भ्रमित हो जाते हैं— जोकि मेरे ‘अज’ तथा ‘अव्यय-धर्म’ की अवमानना स्वरूप है)।
25। मी स्वतःला योगमायेने झाकून ठेवतो—सर्वांसमोर प्रकट होत नाही. याच कारणामुळे अज्ञानी लोक ‘अज’ म्हणजे अजन्मा आणि ‘अव्यय’ म्हणजे नित्य अशा मला जाणू शकत नाहीत. (अर्थात माझे अविनाशी स्वरूप मातृगर्भातून उत्पन्न झालेले आहे असे समजून, पाञ्चभौतिक ज्ञानाने त्याला नश्वर मानून भ्रमित होतात—असा कुविचार माझ्या ‘अज’ आणि ‘अव्यय-धर्मा’चा अवमानच आहे.)

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥26॥
26। हे अर्जुन! पहले बीते हुए, वर्तमान और आगे आने वाले
सब चराचर प्राणियों को मैं जानता हूँ; परन्तु मुझे कोई नहीं जानता।
२६। हे अर्जुन! मी भूतकाळ, वर्तमान आणि भविष्यकाळातील सर्व चराचर (स्थावर-जंगम) प्राण्यांना जाणतो; पण मला कोणीही जाणत नाही.

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥27॥
27। हे भारत! जड़ जगत् की सृष्टि के समय से ही ये सब प्राणी भ्रमित रहते हैं। हे परन्तप! उनकी अविद्या से पैदा हुए इच्छा (आसक्ति) और द्वेष के जो संस्कार हैं, उनसे ही उत्पन्न मान-अपमान, सुख-दुःख, स्त्री-पुरुष आदि द्वन्द्वों के मोह से सब प्राणी भ्रम में फँसे रहते हैं।
२७. हे भारत! जड जगाच्या सृष्टीच्या आरंभीपासूनच हे सर्व प्राणी भ्रमित झालेले आहेत. हे परंतप! त्यांच्या अविद्येतून निर्माण झालेले इच्छा (आसक्ती) आणि द्वेष यांचे जे संस्कार आहेत, त्यांपासून उत्पन्न झालेल्या मान-अपमान, सुख-दुःख, स्त्री-पुरुष इत्यादी द्वंद्वांच्या मोहात सर्व प्राणी अडकून राहतात.

येषान्त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥28॥

28। [मेरे इस नित्य स्वरूप की अनुभूति का अधिकार कैसे प्राप्त होता है, वह सुनो] किन्तु, जिन सब पवित्र कर्म करने वाले जीवों के पाप नष्ट हो गये हैं, वे उस सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के मोह से छूटकर दृढ़ निश्चय से मेरा भजन करते हैं।
28। [माझ्या या नित्य स्वरूपाच्या अनुभूतीचा अधिकार कसा प्राप्त होतो, ते ऐक] परंतु, ज्या सर्व पवित्र कर्म करणाऱ्या जीवांची पापे नष्ट झाली आहेत, ते त्या सुख-दुःखादि द्वंद्वांच्या मोहातून मुक्त होऊन दृढ निश्चयाने माझे भजन करतात.

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥29॥
29। [अब मेरे मोक्ष चाहने वाले भक्तों की बात सुनो,] जो लोग जरा-मरण से छूटने के उद्देश्य से मेरी शरण में आकर अर्चन-पूजा आदि साधन करते हैं, वे समग्र ब्रह्म-तत्त्व, अध्यात्म-तत्त्व और सारे कर्म-तत्त्व का रहस्य जान लेते हैं।
29। [आता मोक्षाची इच्छा करणाऱ्या माझ्या भक्तांविषयी ऐक,] जे लोक जरा (वृद्धावस्था) व मरणापासून मुक्त होण्याच्या उद्देशाने मला शरण येऊन अर्चन-पूजा इत्यादी साधन करतात, ते संपूर्ण ब्रह्म-तत्त्व, अध्यात्म-तत्त्व आणि सर्व कर्म-तत्त्वाचे रहस्य जाणून घेतात.

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञञ्च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥30॥
इति ‘विज्ञानयोगो’ नाम सप्तमोऽध्यायः॥

30। जो लोग अधिभूत तत्त्व, अधिदैव-तत्त्व और अधियज्ञ-तत्त्व सहित मुझे जानते हैं, उनका मन मुझमें युक्त होने के कारण, अन्त समय भी वे मुझे जान सकते हैं (अर्थात् वे उस समय भी मृत्यु-यंत्रणा के कारण मुझे नहीं भूलते)।
30। जे लोक अधिभूत-तत्त्व, अधिदैव-तत्त्व आणि अधियज्ञ-तत्त्वासहित मला जाणतात, त्यांचे मन माझ्याशी युक्त झाल्यामुळे, अंतकाळी सुद्धा ते मला जाणू शकतात. (अर्थात ते त्या वेळीही मृत्यूच्या यातनांमुळे मला विसरत नाहीत.)

इति सप्तम अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
इति सप्तम अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.
इति सातव्या अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः
अक्षरब्रह्मयोगः
अर्जुन उवाच—
किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम। अधिभूतञ्च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥1॥
1। अर्जुन ने कहा,—हे पुरुषोत्तम! वह ‘ब्रह्म’ क्या है? ‘अध्यात्म’ क्या है? ‘कर्म’ क्या है? ‘अधिभूत’ और ‘अधिदैव’ किसे कहते हैं?।
१। अर्जुन म्हणाला,—हे पुरुषोत्तम! ते ‘ब्रह्म’ काय आहे? ‘अध्यात्म’ काय आहे? ‘कर्म’ काय आहे? ‘अधिभूत’ आणि ‘अधिदैव’ कोणाला म्हणतात?
१। अर्जुन म्हणाला—हे पुरुषोत्तम! ते ‘ब्रह्म’ काय आहे? ‘अध्यात्म’ म्हणजे काय? ‘कर्म’ कशाला म्हणतात? ‘अधिभूत’ कोणाला म्हटले जाते आणि ‘अधिदैव’ कोणाला म्हणतात?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥2॥
2। हे मधुसूदन! ‘अधियज्ञ’ कौन हैं और इस शरीर में किस प्रकार अवस्थित हैं? इन्द्रियों को वश में करने वाले आत्मसंयमी व्यक्ति अन्त समय में आपको कैसे जान पाते हैं?
२। हे मधुसूदन! ‘अधियज्ञ’ कोण आहेत आणि या शरीरात ते कशा प्रकारे स्थित आहेत? इंद्रियांना वश करणारा आत्मसंयमी पुरुष शेवटच्या काळात तुम्हाला कसा जाणतो?

श्रीभगवानुवाच—
अक्षरं परमं ब्रह्म स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥3॥
3। श्रीभगवान् ने कहा,—अविनश्वर परम तत्त्व-वस्तु ही ‘ब्रह्म’ है। ‘स्वभाव’ अर्थात् जीव ‘अध्यात्म’ कहलाता है। और जीवों की स्थावर-जंगम आदि देह की उत्पत्ति तथा वृद्धि करने वाला जो संसार है, उसे ‘कर्म’ कहा जाता है।
३। श्रीभगवान् म्हणाले,—अविनाशी परम तत्त्व-वस्तूच ‘ब्रह्म’ आहे. ‘स्वभाव’ म्हणजे जीव ‘अध्यात्म’ म्हणून ओळखला जातो. आणि जीवांच्या स्थावर-जंगम इत्यादी देहांची उत्पत्ती तसेच वृद्धी (वाढ) करणारा जो संसार आहे, त्याला ‘कर्म’ म्हटले जाते.

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्। अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥4॥
4। सभी नाश्वान् पदार्थ—‘अधिभूत’ हैं; समष्टि-स्वरूप विराट् पुरुष— देवताओं के अधिपति-रूपी ‘अधिदैव’ हैं; एवं हे नरवर अर्जुन! इस देह में अन्तर्यामी पुरुष के रूप में स्थित—मैं ही ‘अधियज्ञ’ हूँ।
4। सर्व नाशवंत पदार्थ ‘अधिभूत’ आहेत; समष्टिस्वरूप विराट पुरुष —देवतांचा अधिपतीरूपी ‘अधिदैव’ आहे; आणि हे नरश्रेष्ठ अर्जुन! या देहामध्ये अंतर्यामी पुरुषाच्या रूपाने स्थित असलेला मीच ‘अधियज्ञ’ आहे.

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥5॥

5। अन्त समय में केवल मेरा ही स्मरण करते-करते जो देह त्याग कर प्रस्थान करता है, वह मेरे अधीन अप्राकृत भाव (सत्ता) भगवद्भाव को ही प्राप्त करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।
५। जो मनुष्य शेवटच्या काळात केवळ माझेच स्मरण करत करत देहत्याग करून प्रस्थान करतो, तो माझ्या अधीन असलेल्या अप्राकृत भावाला (सत्तेला)— भगवद्‌-भावाला—प्राप्त होतो; यात किंचितही शंका नाही.

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥6॥
6। हे कौन्तेय! जो अन्त समय में जिस भाव तथा रूप को स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह उसी भाव अर्थात् रूप को ही प्राप्त होता है। सब समय जिस प्रकार की भावना की जाती है, अंतिम समय के स्मरण में वही भाव ही भावित हुआ करता है।
6। हे कौंतेय! जो अंतकाळी ज्या भावाचे व रूपाचे स्मरण करीत शरीर सोडतो, तो त्याच भावाला म्हणजेच रूपाला प्राप्त होतो. सर्व काळ ज्या प्रकारची भावना केली जाते, अंतकाळच्या स्मरणात तोच भाव दृढ होत असतो.
6। हे कौन्तेय! मनुष्य अंतकाळी ज्या ज्या भावाचे आणि रूपाचे स्मरण करत शरीर त्याग करतो, तो त्याच भावाला अर्थात रूपाला प्राप्त होतो. नेहमी जशी भावना केली जाते, शेवटच्या क्षणी त्या स्मरणातही तोच भाव अनुभवला जातो.

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः॥7॥
7। इसलिए [हे अर्जुन!] तुम सर्वदा मेरा ही स्मरण करो और अपना स्वधर्म-विहित कार्य अर्थात् अपने क्षत्रिय स्वभाव के अनुरूप इस धर्म-युद्ध को करो। मन तथा बुद्धि मुझमें ही अर्पित रहने पर तुम मुझे ही प्राप्त करोगे, इसमें कोई संशय नहीं है।
7। म्हणून [हे अर्जुन!] तू सर्वदा माझेच स्मरण कर आणि आपले स्वधर्म-विहित कार्य अर्थात आपल्या क्षत्रिय स्वभावाला अनुरूप असलेले हे धर्मयुद्ध कर. मन व बुद्धी माझ्यातच अर्पण राहिल्यास तू मलाच प्राप्त करशील, यात काही संशय नाही.

७। म्हणूनच [हे अर्जुन!] तू सर्वकाळ (निरंतर) माझेच स्मरण कर आणि आपल्या स्वधर्मानुसार कार्य—म्हणजे क्षत्रियस्वभावाला अनुरूप हे धर्मयुद्ध—कर. मन आणि बुद्धी माझ्यातच अर्पण राहिल्यास तू मला प्राप्त होशील; यात किंचितही संशय नाही.

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥8॥
8। हे पार्थ! जो चित्त निरन्तर अभ्यास-योग में लगा रहता
है तथा अन्य विषयों में भटकता नहीं है, [अन्त समय में] जीव उसी चित्त के द्वारा दिव्य परम पुरुष का निरन्तर चिंतन करते-करते उसी को प्राप्त होता है।
8। हे पार्थ! जे चित्त निरंतर अभ्यास-योगात मग्न असते आणि इतर विषयांकडे भटकत नाही, [अंतकाळी] जीव त्याच चित्ताद्वारे त्या दिव्य परम पुरुषाचे निरंतर चिंतन करत त्यालाच प्राप्त होतो.
८। हे पार्थ! जे चित्त निरंतर अभ्यासयोगात गुंतलेले राहते आणि इतर विषयांत भरकटत नाही, [अंतकाळी] जीव त्या चित्ताच्या द्वारे दिव्य परमपुरुषाचे सतत चिंतन करत करत त्यालाच प्राप्त होतो.

कविं पुराणमनुशासितार-मणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥9॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन,
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्,
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥10॥
9-10। [उन परम पुरुष के ध्यान के विषय में बता रहा हूँ, सुनो,] वे सर्वज्ञ, अनादि, सबको नियम में रखने वाले, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, सबके विधाता, जड़-बुद्धि से परे उनका रूप, सूर्य के समान तेजस्वी एवं स्वप्रकाशित तथा माया से परे हैं—जो व्यक्ति मृत्यु के समय योगबल से प्राणवायु को दोनों भृकुटियों के बीच में टिकाकर, अचल मन से इस प्रकार के दिव्य पुरुष का भक्ति सहित तथा पूर्व अभ्यासवश अनुक्षण

स्मरण करता है, वह उन दिव्य पुरुष को प्राप्त कर लेता है। ९–१०। [त्या परमपुरुषाच्या ध्यानाविषयी सांगतो, ऐक] ते सर्वज्ञ, अनादि, सर्वांना नियमात ठेवणारे, सूक्ष्मापेक्षा सूक्ष्मतर, सर्वांचे विधाता, जडबुद्धीच्या पलीकडील रूप असलेले, सूर्याप्रमाणे तेजस्वी व स्वप्रकाशित आणि मायापलीकडील आहेत. जी व्यक्ती मृत्युकाळी योगबलाने प्राणवायूला दोन्ही भृकुटींच्या मध्ये स्थिर करून, अचल मनाने अशा दिव्य पुरुषाचे भक्तीपूर्वक व पूर्वाभ्यासामुळे सतत स्मरण करते, ती त्या दिव्य पुरुषाला प्राप्त होते.

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति,
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥11॥
11। वेद को जानने वाले विद्वान जिन्हें ‘अक्षर’-स्वरूप (अविनाशी) कहते हैं, संसार के प्रति अनासक्त संन्यासिगण जिनके लोक में प्रविष्ट होते हैं और जिन्हें प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मचारिगण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस प्राप्य वस्तु के संबंध में मैं तुम्हें संक्षेप में बतला रहा हूँ।
११। वेद जाणणारे विद्वान ज्यांना ‘अक्षर-स्वरूप’ (अविनाशी) म्हणतात, संसाराशी अनासक्त असलेले संन्यासी ज्यांच्या लोकात प्रवेश करतात आणि ज्यांना प्राप्त करण्याच्या इच्छेने ब्रह्मचारिगण ब्रह्मचर्य-व्रताचे पालन करतात—त्या प्राप्य-वस्तूच्या संबंधी मी तुला संक्षेपाने सांगतो.

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ल्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥12॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥13॥

12-13। मेरी योगधारणा के क्रम में [विषयों में अनासक्ति के द्वारा] इन्द्रियों के सब द्वारों को विषयों से हटाकर और मन को हृदय में निरोध (रोक) कर एवं अपने प्राण को दोनों भृकुटियों के बीच में स्थापित करके जो एकाक्षर ब्रह्मवाचक शब्द—‘ॐ’ का उच्चारण करता हुआ देह त्याग करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।
12-13। माझ्या योगधारणेच्या क्रमात [विषयांमध्ये अनासक्तीद्वारे] इंद्रियांची सर्व द्वारे विषयांपासून दूर करून आणि मनाला हृदयात निरोध करून (अडवून) तसेच आपला प्राण दोन्ही भुवयांच्या मध्ये स्थापित करून जो एकाक्षर ब्रह्मवाचक शब्द—‘ॐ’ चा उच्चार करत देहत्याग करतो, तो परम गतीला प्राप्त होतो.
१२–१३। माझ्या योगधारणेच्या क्रमात [विषयांमध्ये अनासक्त राहून] इंद्रियांचे सर्व दरवाजे विषयांपासून हटवून, मनाला हृदयात स्थिर करून आणि प्राणाला दोन्ही भृकुटींमध्ये स्थापित करून जो मनुष्य ‘ॐ’ या एकाक्षर ब्रह्मवाचक शब्दाचा उच्चार करत देहत्याग करतो, तो परमगतीला प्राप्त होतो.

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥14॥

14। [किन्तु शुद्ध-भक्त के लिए ऊपर बताया योग का प्रयास आवश्यक नहीं है] हे पार्थ! जो सदा एकाग्र चित्त से निरन्तर मेरा स्मरण करता है (अर्थात् मेरा नाम, रूप, गुण, लीला, परिकर, धाम—ये ही मात्र जिसके प्रत्येक क्षण का ध्यान-ज्ञान हैं, उस प्रकार के नित्य भक्तियोग-युक्त योगी को मेरी प्राप्ति आसानी से हो जाती है।
14। [परंतु शुद्ध-भक्तासाठी वर सांगितलेला योगाचा प्रयास आवश्यक नाही] हे पार्थ! जो सदैव एकाग्र चित्ताने निरंतर माझे स्मरण करतो (अर्थात माझे नाम, रूप, गुण, लीला, परिकर, धाम—हेच ज्याच्या प्रत्येक क्षणाचे ध्यान व ज्ञान आहेत, अशा प्रकारच्या नित्य भक्तियोग-युक्त योगीला) माझी प्राप्ती सहजपणे होते.

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥15॥
15। मुझे पाकर उस महात्मा को पुनः यह दुःखों से भरा अनित्य जन्म पुनः नहीं ग्रहण करना पड़ता—वह परम सिद्धि (अर्थात् मेरा लीला-परिकरत्व) प्राप्त करता है।
१५। माझी प्राप्ती झाल्यावर त्या महात्म्याला पुन्हा
हा दुःखांनी भरलेला अनित्य-जन्म स्वीकार करावा लागत नाही — तो परम-सिद्धी (म्हणजे माझे लीला-परिकरत्व) प्राप्त करतो.

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥16॥

16। ब्रह्मा के सत्यलोक तक [स्वर्ग आदि] जितने लोक हैं, वहाँ से लौटकर सभी जीवों को ही बार-बार जन्म लेना पड़ता है। किन्तु हे अर्जुन! जो लोग मुझे प्राप्त होते हैं, उनका और पुनर्जन्म नहीं होता।
१६। ब्रह्मदेवांच्या सत्यलोकापर्यंत [स्वर्गादि] जितके लोक (ग्रह) आहेत, तेथे जाऊन परतल्यावर सर्व जीवांना पुन्हा पुन्हा जन्म घ्यावा लागतो. पण हे अर्जुन! जे जीव मला प्राप्त होतात, त्यांचा पुनर्जन्म होत नाही.

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥17॥
17। [उस पुनर्जन्म का चित्र इस प्रकार है] ब्रह्मा के दिन-रात के तत्त्व को जानने वाले जानते हैं कि ब्रह्मा का एक दिन एक हज़ार महायुगों (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगों) को लेकर होता है और उसी प्रकार एक हज़ार महायुग व्यापी होती है उनकी एक रात्रि।
१७। [त्या पुनर्जन्माचे चित्र असे आहे] ब्रह्मदेवांच्या दिवस-रात्रीच्या तत्त्वाच्या जाणकारांना माहीत आहे की ब्रह्मदेवांचा एक दिवस हा एक हजार महायुगांचा (सत्य, त्रेता, द्वापर आणि कलियुग या चार युगांचा) समूह असतो आणि त्याचप्रमाणे एक हजार महायुग व्यापणारी त्यांची एक रात्र असते.

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥18॥

18। ब्रह्मा का दिन आने पर सब कुछ (शरीर, इन्द्रिय, भोग्य, भोगस्थान आदि) उस ‘अव्यक्त'-रूपी कारण से व्यक्त (पैदा) होते हैं। और फिर ब्रह्मा की रात्रि आने पर, उसी ‘अव्यक्त’ नामक कारण में वे सभी लय हो जाते हैं।
१८। ब्रह्मदेवांचा दिवस उगवल्यावर सर्व काही (शरीर, इंद्रिये, भोग्य वस्तू, भोगस्थान इत्यादी) त्या ‘अव्यक्त’ रूपी कारणातून प्रकट (उत्पन्न) होतात. आणि ब्रह्मदेवांची रात्र झाली की, ते सर्व पुन्हा त्या ‘अव्यक्त’ नावाच्या कारणामध्ये लय पावतात.

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते। रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥19॥
19। ब्रह्मा की रात्रि के आने पर लय और दिन के आने पर उत्पत्ति— इस प्रकार चराचर समस्त प्राणियों का नियम के अधीन होकर बार-बार जन्म और लय (पुनरावर्त्तन) होता रहता है।
१९। ब्रह्मदेवांची रात्र झाल्यावर सर्व चराचर प्राणी
लय पावतात, आणि त्यांचा दिवस उगवला की ते पुन्हा उत्पन्न होतात. अशा रीतीने संपूर्ण सृष्टी नियमाच्या अधीन राहून वारंवार जन्म आणि लय (पुनरावृत्ती) अनुभवत राहते.

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥20॥

20। वह जो ‘अव्यक्त’ नामक कारण है—उससे भी श्रेष्ठ और
एक ‘अव्यक्त’ है, वह सनातन वस्तु अर्थात् अनादि है—जो समस्त भौतिक पदार्थों के नष्ट होने पर भी विनष्ट नहीं होता।
२०। ते जे ‘अव्यक्त’ नावाचे कारण आहे त्यापेक्षाही श्रेष्ठ असे एक ‘अव्यक्त’ आहे. ते सनातन वस्तू किंवा अनादि आहे—ते सर्व भौतिक पदार्थ नष्ट झाल्यावरही कधीही विनष्ट होत नाही.

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥21॥
21। [उस सनातन ‘अव्यक्त’-तत्त्व का परिचय यह है कि,] जिसे अव्यक्त और ‘अक्षर’ कहा गया है, उसे ही समस्त जीवों की परम गति कहते हैं। जिसे पाकर जीव पुनः संसार चक्र में नहीं लौटता, वह अव्यक्त ही मेरा परम धाम अर्थात् नित्य स्वरूप है।
२१. [त्या सनातन ‘अव्यक्त’-तत्त्वाची ओळख अशी आहे की,] ज्याला अव्यक्त आणि ‘अक्षर’ म्हटले आहे, त्यालाच सर्व जीवांची परम गती म्हणतात. ज्याला प्राप्त करून जीव पुन्हा संसारचक्रात परत येत नाहीत, ते अव्यक्तच माझे परम धाम म्हणजे नित्य स्वरूप आहे.

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥22॥

22। हे पार्थ! जिनके भीतर सब प्राणी अवस्थित हैं और जिनके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् परिव्याप्त है, वे अव्यक्त और ‘अक्षर’-स्वरूप परम पुरुष अनन्य-भक्ति से ही प्राप्त होते हैं।
22। हे पार्थ! ज्यांच्या आत सर्व प्राणी अवस्थित आहेत आणि ज्यांच्या द्वारे हे संपूर्ण जग व्यापलेले आहे, ते अव्यक्त आणि ‘अक्षर’ स्वरूप परम पुरुषच अनन्य (निष्ठावान) भक्तीने प्राप्त होतात.

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥23॥
23। [किन्तु अनन्य-भक्तिहीन होने पर] जिस ‘काल’ में मृत्यु होने पर तथा जिस मार्ग से गमन करके योगियों को संसार में पुनः लौटना पड़ता है या फिर जिस काल में मृत्यु होने से पुनः लौटना नहीं पड़ता, अब मैं उस ‘काल’ तथा मार्ग के विषय में बतला रहा हूँ।
२३। [पण अनन्य-भक्ती नसल्यास] ज्या ‘काळात’ मृत्यू झाल्यावर आणि ज्या मार्गाने जाण्यामुळे योगींना पुन्हा संसारात परत यावे लागते किंवा ज्या काळात मृत्यू झाल्यावर पुन्हा परत येण्याची गरजच राहत नाही, आता मी त्या ‘काळ’ आणि मार्गाबद्दल सांगतो.

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥24॥

24। जो ब्रह्मज्ञानी योगी, ज्योतिर्मयी अग्नि के प्रभाव में, दिन में, शुक्ल पक्ष में या उत्तरायण के छः मास में देह त्याग करता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है (अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता)।
24> जो ब्रह्मज्ञानी योगी, ज्योतिर्मय अग्नीच्या प्रभावाखाली, दिवसा, शुक्लपक्षात किंवा उत्तरायणाच्या सहा महिन्यांत शरीर त्याग करतो, तो परब्रह्म प्राप्त करतो (म्हणजे त्याचा पुनर्जन्म होत नाही).

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते॥25॥
25। जो कर्मयोगी धुएँ, रात्रि, कृष्ण पक्ष में या दक्षिणायन रहने के छह महीनों में देह त्याग करता है वह चन्द्रलोक को जाता है, तथा [भोग समाप्त होने पर] पुनः संसार में लौट आता है।
25। जो कर्मयोगी धुर, रात्र, कृष्णपक्षात किंवा दक्षिणायनाच्या सहा महिन्यांत शरीर त्याग करतो तो चंद्रलोकात जातो आणि (भोग संपल्यावर) पुन्हा संसारात (भौतिक जगात) परत येतो.

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः॥26॥

26। इस प्रकार ‘शुक्ल’ तथा ‘कृष्ण’ नाम से जगत की ये दो सनातन गतियाँ अर्थात् मार्ग स्वीकार किए गए हैं। इनमें से शुक्ल मार्ग से गया हुआ व्यक्ति संसार में वापस नहीं आता और कृष्ण मार्ग से गया हुआ व्यक्ति पुनः संसार में लौट आता है।
26। अशा प्रकारे ‘शुक्ल’ तसेच ‘कृष्ण’ या नावांनी जगातील या दोन सनातन गती अर्थात् मार्ग मान्य केले आहेत. यांपैकी शुक्ल मार्गाने गेलेली व्यक्ती संसारात (भौतिक जगात) परत येत नाही आणि कृष्ण मार्गाने गेलेली व्यक्ती पुन्हा संसारात परत येते.

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥27॥
27। [किन्तु] हे पार्थ! मेरा अनन्य भक्त शुक्ल और कृष्ण
इन दोनों गतियों के विषय में जानकर मोहित नहीं होता (अर्थात् भक्तियोग का आश्रय करने वाले की इन दोनों मार्गों के प्रति किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रहती)। इसलिए हे अर्जुन! तुम सदा उस अनन्य भक्तियोग का सहारा लो।
२७। [परंतु) हे पार्थ! शुक्ल आणि कृष्ण या दोन्ही गतिंविषयी जाणूनही माझा अनन्य भक्त मोहित होत नाही (म्हणजे भक्तियोगाचा आश्रय घेतलेल्या साधकाला या मार्गांबद्दल कोणतीही अपेक्षा राहत नाही). म्हणून, हे अर्जुन! तू सदैव त्या अनन्य भक्तियोगाचाच आधार घे.

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्। अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा,
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥28॥
इति ‘अक्षरब्रह्मयोगो’ नामाष्टमोऽध्यायः।
28। इस तत्त्व को जानकर भक्तिमान् योगी वेदपाठ, यज्ञ, तपस्या तथा दान आदि कर्मों में जो पुण्य फल बताए गये हैं, उन सबसे आगे बढ़ जाता है और मुझ मायातीत आदि पुरुष के परम नित्य धाम को प्राप्त कर लेता है।
२८। हे तत्त्व जाणून घेऊन, भक्तिमान योगी वेदपठण, यज्ञ, तपश्चर्या आणि दान इत्यादी कर्मांपासून मिळणारी जी सर्व पुण्यफळे सांगण्यात आलेली आहेत त्यांच्याही पलीकडे जातो आणि मायातीत (मायेच्या पलीकडील) आदिपुरुषाच्या अर्थात्

माझ्या परम नित्य धामाला प्राप्त करतो. इति अष्टम अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त। इति अष्टम अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.

नवमोऽध्यायः
राजगुह्ययोगः
श्रीभगवानुवाच—
इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥1॥
1। श्रीभगवान् ने कहा,—हे अर्जुन, चूँकि तुम ईर्ष्या- द्वेष रहित हो, इसीलिए मैं तुम्हें यह परम रहस्यमय ज्ञान तथा अनुभूति बतला रहा हूँ — जिसे जानकर तुम सभी प्रकार के अमंगलों से बच जाओगे।
१। श्रीभगवान म्हणाले,—हे अर्जुन! तू ईर्ष्या- द्वेषरहित असल्यामुळे मी तुला हे परम रहस्यमय ज्ञान आणि अनुभूती सांगतो. हे जाणल्यावर तुझा सर्व प्रकारच्या अमंगलांपासून बचाव होईल.

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्। प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्॥2॥
2। यह ज्ञान ‘राजविद्या’ है—सब प्रकार की विद्याओं का राजा है, ‘राजगुह्य’ है—सब प्रकार के गोपनीय-तत्त्वों में श्रेष्ठ, अतीव पवित्र, साक्षात् फल देने वाला, समस्त धर्मसाधक, साधन में सुगम और निर्गुण है।
२। हे ज्ञान ‘राजविद्या’ आहे—सर्व प्रकारच्या विद्यांचा राजा आहे. हे ‘राजगुह्य’ आहे—सर्व गोपनीय (गुप्त राखण्याजोग्या) तत्त्वांमध्ये श्रेष्ठ आहे. हे अत्यंत पवित्र, प्रत्यक्ष फळ देणारे, सर्व धर्मसाधक (सर्व धर्म साधण्यास उपयुक्त), साधनात सुगम आणि निर्गुण आहे.

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥3॥
3। [अतएव] हे परन्तप! इस धर्म में जिनकी श्रद्धा नहीं है, वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। अतः वे इस मृत्युपूर्ण संसार-चक्र में ही भ्रमण करते रहते हैं।
३। हे परंतप! ज्यांच्या मनात या धर्माविषयी श्रद्धा नाही, ते मला प्राप्त करू शकत नाहीत. त्यामुळे ते मृत्युपूर्ण संसारचक्रातच भटकत राहतात.

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥4॥
4। ‘अव्यक्त-मूर्ति’ अर्थात् इन्द्रियों से अतीत, मैं,
इस समग्र जगत में व्याप्त हूँ। इसलिए चराचर सब प्राणी मुझ सर्वव्यापक में ही स्थित हैं, परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।
४. ‘अव्यक्त-मूर्ती’ म्हणजे इंद्रियांपलीकडील मी, या संपूर्ण जगतात व्यापून आहे. म्हणूनच चराचर सर्व प्राणी माझ्या सर्वव्यापक स्वरूपातच स्थित आहेत; परंतु मी त्यांच्यामध्ये स्थित नाही.

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥5॥
5। [पुनः] वे सब प्राणी मुझमें भी अवस्थित नहीं हैं। इसे मेरी ऐश्वरिक शक्ति समझो। मेरा मन ही ‘भूतभृत्’ है अर्थात् सब प्राणियों को धारण करने वाला है तथा भूतभावन’ है अर्थात् प्राणियों का पालन करने वाला है, किन्तु ऐसा करते हुए भी मैं ‘भूतस्थ’—प्राणियों में स्थित नहीं हूँ।
५. [पुन्हा सांगतो—] ते सर्व प्राणी माझ्यात अवस्थित नाहीत. ह्याला माझी ऐश्वरिक शक्ती समज. माझे मनच ‘भूतभृत्’ आहे—म्हणजे सर्व प्राण्यांना धारण करणारे आहे. आणि माझे मनच ‘भूतभावन’ आहे—म्हणजे प्राण्यांचे पालन करणारे आहे. तरीही असे करत असताना मी ‘भूतस्थ’—प्राण्यांमध्ये स्थित नसतो.

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥6॥
6। जैसे सब जगह बहने वाली अपरिसीम वायु सदा आकाश में स्थित रहती है (फिर भी आकाश जैसे वायु से अलग है) वैसे ही उस ‘आकाश’ के समान मुझमें, सब प्राणी स्थित हैं—इस दृष्टांत के माध्यम से इसे समझने का प्रयास करो।
६। ज्याप्रमाणे सर्वत्र वाहणारा असीम वायू (वारा) सदैव आकाशात स्थित असतो (तरीही आकाश वायूपासून अलिप्त असते), तशाच प्रकारे त्या आकाशासारख्या माझ्यात सर्व प्राणी (जीवात्मे) स्थित आहेत—या दृष्टांताच्या माध्यमातून हे तत्त्व समजून घेण्याचा प्रयत्न कर.

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥7॥
7। ‘कल्प’—ब्रह्मा का एक दिन है, उसका अंत होने पर हे कौन्तेय! सब प्राणी मेरी त्रिगुणात्मिका प्रकृति में प्रवेश कर जाते हैं और पुनः उस ‘कल्प’ का आरम्भ होने पर मैं उनकी सृष्टि करता हूँ।
७. ‘कल्प’ हा ब्रह्मदेवांचा एक दिवस आहे. त्याचा अंत झाल्यावर, हे कौन्तेय! सर्व प्राणी माझ्या त्रिगुणात्मिका प्रकृतीत प्रवेश करतात. आणि पुन्हा त्या ‘कल्पा’चा (अर्थात नव्या कल्पाचा) आरंभ झाल्यावर मी त्यांची सृष्टी करतो.

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥8॥
8। अपनी प्रकृति के द्वारा ही मैं बार-बार इस प्रकार सृष्टि करता हूँ। ये सब प्राणी ‘प्रकृति-वश’ (अर्थात् प्राचीन कर्मवासना के वशीभूत) होने के कारण ‘अवश’— परतन्त्र हैं।
८। आपल्या प्रकृती द्वारे मी वारंवार अशा प्रकारे सृष्टीची रचना करतो. हे सर्व प्राणी ‘प्रकृति-वश’ असल्यामुळे (म्हणजेच त्यांच्या प्राचीन कर्मवासनेद्वारे वशीभूत झाल्याने) ‘अवश’ म्हणजेच परतंत्र आहेत.

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय। उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥9॥
9। और हे धनञ्जय! वे सब [सृजन आदि] कर्म मुझे नहीं बाँधते, क्योंकि उदासीन की भाँति रहते हुए मेरी उन सब कर्मों में आसक्ति नहीं है।
९. आणि हे धनंजय! ती सर्व [सृजनादी] कर्मे मला बांधत नाहीत, कारण मी उदासीनासारखा राहत असल्यामुळे मला त्या सर्व कर्मांमध्ये आसक्ती नसते.

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥10॥

10। हे कौन्तेय! [मेरी वह उदासीनता कैसी है, सुनो] मेरी अध्यक्षता में अर्थात् दूर से मेरे दृष्टिपात-द्वारा परिचालित होकर ही यह ‘प्रकृति’ चराचर जगत की सृष्टि करती है। इसी कारण यह संसार बार-बार सृजित तथा विनष्ट होता है।
१०. हे कौन्तेय! [माझी ती उदासीनता कशी आहे, ते ऐक—] माझ्या अध्यक्षतेखाली—म्हणजेच दूरून माझ्या दृष्टिक्षेपाने परिचालित (संचालित) होऊनच ही ‘प्रकृती’ चराचर जगाची (स्थावर आणि जंगम प्राण्यांनी भरलेल्या विश्वाची) सृष्टी करते. याच कारणाने या जगाचे वारंवार सृजन आणि विनाश होतो.

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥11॥
11। [फिर भी कुछ लोग मेरा जो अनादर करते हैं, उसका कारण
है कि] मेरा मानुषी शरीर के आश्रित ‘भाव’ या सत्ता ही सर्वश्रेष्ठ है, मूर्ख लोग इसे नहीं जान पाते, इसलिए सब प्राणियों का महान ईश्वर होते हुए भी मुझको साधारण मनुष्य मानकर अवज्ञा करते हैं।
11। [तरीही काही लोक माझा जो अनादर करतात, त्याचे कारण असे की] माझा मानवी शरीराच्या आश्रयाने असलेला ‘भाव’ किंवा सत्ताच सर्वश्रेष्ठ आहे, मूर्ख लोक हे जाणू शकत नाहीत, म्हणून सर्व प्राणिमात्रांचा महान ईश्वर असूनही मला सामान्य मनुष्य समजून ते अवज्ञा करतात.
११। [तरीही काही लोक माझा जो अनादर करतात, त्याचे कारण
हे आहे की] माझा मानुषी (मानवी) शरीराचा आश्रित ‘भाव’ किंवा सत्ताच सर्वश्रेष्ठ आहे, हे तथ्य मूर्ख लोक जाणू शकत नाहीत; म्हणूनच, मी सर्व जीवांचा (प्राण्यांचा) महान ईश्वर असूनही, ते मला एक साधारण मनुष्य समजून माझी अवज्ञा (अनादर) करतात.

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः। राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥12॥
12। [उस अवज्ञा का फल यह है कि,] ऐसे व्यर्थ आशा, निष्फल कर्म और निरर्थक ज्ञान वाले भ्रष्ट चित्त अज्ञानी लोग सदा मोहात्मक राक्षसी (तामसिक) और आसुरी (राजसिक) स्वभाव को ही धारण किये रहते हैं॥12॥

12। [त्या अवज्ञेचे फळ असे आहे की,] अशी व्यर्थ आशा, निष्फळ कर्म आणि निरर्थक ज्ञान असलेले भ्रष्ट चित्ताचे अज्ञानी लोक सदैव मोहात्मक राक्षसी (तामसिक) आणि आसुरी (राजसिक) स्वभावालाच धारण करून राहतात ॥12॥
१२। [त्या अवज्ञेचे फळ असे आहे की,] अशा व्यर्थ आशा, निष्फळ कर्मे आणि निरर्थक ज्ञान बाळगणारे भ्रष्टचित्त अज्ञानी लोक, सदैव मोहात पाडणाऱ्या राक्षसी (तामसिक) आणि आसुरी (राजसिक) स्वभावालाच धारण करून राहतात.

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥13॥

13। [दूसरी ओर] हे पार्थ! दैवी स्वभाव के महात्मागण अनन्य मन से मेरे इस कृष्ण स्वरूप को ही समस्त प्राणियों का आदि तथा अविनाशी जानकर मुझे निरन्तर भजते हैं।
३। [दुसरीकडे] हे पार्थ! दैवी स्वभावाचे महात्मा लोक अनन्य मनाने माझ्या या कृष्ण-स्वरूपालाच सर्व प्राण्यांचे आदिकारण आणि अविनाशी जाणून माझे निरंतर भजन करतात
१३। [दुसरीकडे] हे पार्थ! दैवी स्वभाव असलेले महात्मे अनन्य मनाने माझ्या या कृष्ण-स्वरूपालाच सर्व जीवांचे आदिकारण आणि अविनाशी (कधीही नाश न होणारे) म्हणून जाणतात आणि माझे सतत भजन करतात.

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥14॥
14। वे निरन्तर मेरे नाम-रूप-गुण-लीला आदि का कीर्तन करते हैं, जो भक्ति के अनुकूल है उसे स्वीकार और जो भक्ति के प्रतिकूल है उसको त्यागने का यत्न करते हैं तथा दृढ़ता के साथ एकादशी-जन्माष्टमी व्रत आदि पालन करते हुए मुझे नमस्कार और अर्चन-वंदन आदि करते हैं,—इस प्रकार मेरे ध्यान में मग्न होकर भक्ति सहित मेरी उपासना किया करते हैं।
१४। ते माझे नाम, रूप, गुण आणि लीला यांचे सतत कीर्तन करतात. भक्तीला अनुकूल असलेले आचरण स्वीकारतात आणि भक्तीला प्रतिकूल असलेले आचरण त्यागण्याचा प्रयत्न करतात. दृढतेने एकादशी, जन्माष्टमी यांसारख्या व्रतांचे पालन करीत मला नमस्कार करतात व माझे अर्चन-वंदन इत्यादी करतात— अशा रीतीने माझ्या ध्यानात मग्न होऊन भक्तिपूर्वक माझी उपासना करतात.
14। ते निरंतर माझ्या नाम, रूप, गुण, लीला इत्यादींचे कीर्तन करतात. जी गोष्ट भक्तीला अनुकूल आहे ती स्वीकारतात आणि जी गोष्ट भक्तीला प्रतिकूल आहे तिचा त्याग करण्याचा प्रयत्न करतात. तसेच दृढतेने एकादशी, जन्माष्टमी इत्यादी व्रतांचे पालन करत मला नमस्कार, अर्चन, वंदन इत्यादी करतात — अशा प्रकारे माझ्या ध्यानात मग्न होऊन भक्तिभावाने ते माझी उपासना करत असतात.

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥15॥
15। फिर कुछ अन्य लोग भी हैं,—जो स्वयं को मुझसे अभेद मानते हैं (अर्थात् अहंग्रहोपासक अपने आपको भगवान् समझने वाले लोग), जो मेरे साथ भेद भावना करते हैं (अर्थात् प्रतीकोपासक—अपने आपको भगवान् से अलग जानकर, सूर्य और इन्द्र आदि देवताओं को भगवान् की विभूति समझकर उनकी उपासना करने वाले लोग), और जो फिर ‘सब कुछ ही विष्णु है’ (अर्थात् विश्वरूपोपासक)—इस प्रकार मुझ ‘विश्वरूप’ की अलग-अलग भाव से ज्ञानयज्ञ द्वारा उपासना करते हैं।
१५। काही इतर लोकही आहेत—जे स्वतःला माझ्याशी अभिन्न मानतात (म्हणजे अहंग्रहोपासक—स्वतःलाच भगवान समजणारे), जे स्वतःला माझ्याहून भिन्न मानतात (म्हणजे प्रतीकोपासक— स्वतःला भगवंतांपासून वेगळे मानून सूर्य, इंद्र इत्यादी देवतांना भगवंतांची विभूती समजून त्यांची उपासना करणारे), आणि जे म्हणतात की ‘सर्व काही विष्णूच आहे’ (म्हणजे विश्वरूपोपासक)—अशा प्रकारे ते माझ्या ‘विश्वरूपाची’ वेगवेगळ्या भावांनी ज्ञानयज्ञाद्वारे उपासना करतात.

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥16॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च॥17॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥18॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥19॥
16-19। [मेरी विश्वरूपता कैसी है, सुनो] हे अर्जुन! मैं अग्निष्टोम आदि ‘श्रौत’-यज्ञ हूँ, मैं ही वैश्वदेव आदि स्मार्त्त यज्ञ हूँ, मैं स्वधा (पितरों को दिये जाने वाला श्राद्ध) हूँ, मैं औषधि हूँ, मैं ही मंत्र हूँ, मैं ही घृत हूँ, मैं ही अग्नि हूँ और मैं ही यज्ञ की आहुति हूँ। मैं इस सारे जगत का पिता, माता, धाता (धारक-पोषक) तथा पितामह हूँ, जो कुछ जानने योग्य है वह मैं ही हूँ, पवित्र ॐकार हूँ और ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। मैं सबकी कर्मफल रूप गति, पति, प्रभु, साक्षी, सबका आश्रय, त्राण करने

वाला, हितैषी, सबकी उत्पत्ति और विनाश का कारण, सबका आधार, ‘निधान’ (पद्म, शंख आदि नामक निधि) और संसार का अविनश्वर बीज अर्थात् कारण मैं ही हूँ। ग्रीष्मकाल में मैं ही ताप प्रदान करता हूँ, वर्षाकाल में मैं ही जल को खींचता हूँ और वर्षा की सृष्टि करता हूँ, मोक्ष और मृत्यु भी मैं ही हूँ, दिखायी देने वाली स्थूल-वस्तु और अदृश्य सूक्ष्म स्वरूप सब कुछ मैं ही हूँ।
१६-१९। [माझी विश्वरूपता कशी आहे, ऐक] हे अर्जुन! मी अग्निष्टोम इत्यादी ‘श्रौत’-यज्ञ आहे, मीच वैश्वदेव इत्यादी स्मार्त-यज्ञ आहे. मी स्वधा (पितरांना दिले जाणारे श्राद्ध) आहे, मी औषधी आहे, मीच मंत्र आहे, मीच घृत (वेदलक्षणा गाईचे शुद्ध तूप) आहे, मीच अग्नी आहे आणि मीच यज्ञात दिली जाणारी आहुती आहे. मी या संपूर्ण जगाचा पिता, माता, धाता (धारण करणारा व पोषण करणारा) तसेच पितामह आहे. जे काही जाणण्यास योग्य आहे ते मीच आहे, पवित्र ॐकार मी आहे आणि ऋग्वेद, सामवेद तसेच यजुर्वेद देखील मीच आहे. मी सर्वांची कर्मफल रूप गती, पती, प्रभू, साक्षी, सर्वांचा आश्रय, त्राण (रक्षण व उद्धार) करणारा, हितैषी (हितचिंतक), सर्वांच्या उत्पत्ती आणि विनाशाचे कारण, सर्वांचा आधार, ‘निधान’ (पद्म, शंख इत्यादी नावाचा निधी) आणि संसाराचे अविनाशी बीज अर्थात कारण मीच आहे. ग्रीष्मकाळात (उन्हाळ्यात) मीच ताप (उष्णता, ऊन) प्रदान करतो, वर्षाकाळात (पावसाळ्यात) मीच पाणी खेचतो आणि पावसाची निर्मिती करतो. मोक्ष आणि मृत्यू देखील मीच आहे, दिसणारी स्थूल-वस्तू आणि अदृश्य सूक्ष्म स्वरूप सर्व काही मीच आहे.

१६–१९। [माझी विश्वरूपता कशी आहे, ऐक] हे अर्जुन! मी अग्निष्टोम इत्यादी ‘श्रौत’ यज्ञ आहे, मी वैश्वदेव इत्यादी ‘स्मार्त्त’ यज्ञ आहे. मी ‘स्वधा’ (पितरांना अर्पण केले जाणारे श्राद्ध) आहे, मी औषध आहे, मी मंत्र आहे, मी घृत (वेदलक्षणा गाईचे शुद्ध तूप) आहे, मी अग्नी आहे आणि मीच यज्ञाची आहुती आहे. मी या संपूर्ण जगाचा पिता, माता, धाता (धारण करणारा व पोषण करणारा) आणि पितामह आहे. जे काही जाणण्यासारखे आहे ते मीच आहे. मी पवित्र ॐकार आहे आणि ऋग्वेद, सामवेद तसेच यजुर्वेदही मीच आहे. मी सर्वांची कर्मफलरूप गती, पती, प्रभू, साक्षी, सर्वांचा आश्रय, त्राण

(संरक्षण व उद्धार) करणारा, हितैषी (हितचिंतक), सर्वांच्या उत्पत्ती व विनाशाचे कारण, सर्वांचा आधार, ‘निधान’ (पद्म, शंख इत्यादी निधी) आणि संसाराचे अविनश्वर बीज म्हणजेच कारण मीच आहे. उन्हाळ्यात मीच उष्णता देतो, पावसाळ्यात मीच जल (पाणी) आकृष्ट करून पर्जन्य निर्माण करतो व पाऊस पाडतो. मोक्ष आणि मृत्यू मीच आहे. दृश्य (डोळ्यांनी दिसणारी) स्थूल वस्तू आणि अदृश्य (डोळ्यांनी न दिसणारे) सूक्ष्म स्वरूप—सर्व काही मीच आहे.

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥20॥
20। [सकाम कर्मियों की गति सुनो] तीनों वेदों में वर्णित सकाम कर्मों को करने वाले, अलग-अलग यज्ञों के द्वारा मेरी (अर्थात् मेरे ही विभूति-स्वरूप इन्द्र आदि देवताओं की) पूजा करके, उन यज्ञों के अवशिष्ट सोमरस को पीकर पापों से मुक्त होकर स्वर्ग में जाना चाहते हैं। वे अपने पुण्यों के फलस्वरूप इन्द्र के पवित्र लोक में पहुँचकर देवताओं के अलौकिक भोगों को भोगते हैं।
२०। [सकाम कर्म करणाऱ्यांची गती ऐक] तीनही वेदांमध्ये वर्णिलेल्या सकाम कर्मांचे पालन करणारे लोक विविध यज्ञांद्वारे माझी (म्हणजे माझ्याच विभूतीस्वरूप इंद्र इत्यादी देवतांची) पूजा करतात. त्या यज्ञांचे अवशिष्ट सोमरस पिऊन ते पापांतून मुक्त होतात आणि स्वर्गाला जाण्याची इच्छा करतात. आपल्या पुण्यफळामुळे ते इंद्राच्या पवित्र लोकात पोहोचतात आणि देवतांचे अलौकिक भोग उपभोगतात.

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना,
गतागतं कामकामा लभन्ते॥21॥
21। वे उस विशाल स्वर्गसुख का उपभोग करने के पश्चात् पुण्य समाप्त होने पर फिर मृत्यु लोक में जन्म ग्रहण करते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों में कहे गए धर्म का जो अनुसरण करते हैं, ऐसे सकाम कर्मों में लगे लोग भोगों की इच्छा के

कारण संसार में बार-बार आवागमन करते रहते हैं।
२१। ते विशाल स्वर्गसुखाचा उपभोग घेतल्यानंतर, पुण्य संपल्यावर पुन्हा मृत्युलोकात जन्म घेतात. अशा प्रकारे तीनही वेदांमध्ये सांगितलेल्या धर्माचे अनुसरण करणारे, सकाम कर्मांमध्ये गुंतलेले लोक भोगांची इच्छा हृदयात बाळगल्यामुळे संसारात (भौतिक जगात) वारंवार येरझारा करत राहतात.

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥22॥
22। [दूसरी ओर] जो सब अनन्य-भजनशील (निष्काम) व्यक्ति मेरा ही चिंतन करते हुए पूर्ण रूप से मेरी उपासना करते हैं, मुझमें नित्य-आसक्त उन भक्तों का ‘योगक्षेम’ (आवश्यकताएँ) अर्थात् समस्त अर्थ प्रदान एवं पालनकार्य-भार, मैं स्वयं वहन करता हूँ।
२२। [दुसरीकडे] ज्या सर्व अनन्य-भजनशील (निष्काम) व्यक्ती माझेच चिंतन करीत पूर्णपणे माझी उपासना करतात, माझ्यात नित्य आसक्त राहतात—त्या भक्तांचे ‘योगक्षेम’ (सगळ्या आवश्यक गरजा) मीच पूर्ण करतो. म्हणजेच त्यांना सर्व आवश्यक अर्थ प्रदान करण्याचा व त्यांचे पालन कार्याचा भार मी स्वतः वहन करतो.

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥23॥
23। [यदि पूछो कि, देवताओं की पूजा से मेरी पूजा होती है
कि नहीं, तो सुनो,] जो भक्त श्रद्धा से दूसरे देवताओं की पूजा करते हैं, वे भी मूल रूप से मेरी ही उपासना करते हैं; किन्तु हे कौन्तेय! उनकी वह पूजा ‘अविधिपूर्वक’ होती है अर्थात् उससे उन्हें नित्य फल की प्राप्ति नहीं होती।
२३। [जर विचारशील की देवतांची पूजा केल्याने काय त्याद्वारे माझी पूजा आपोआपच होते का, तर ऐक] जे भक्त श्रद्धेने इतर देवतांची पूजा करतात, तेही मूळतः माझीच उपासना करतात; पण हे कौन्तेय! त्यांची ती पूजा ‘अविधिपूर्वक’ असते—म्हणजे त्यातून त्यांना नित्य फळाची प्राप्ती होत नाही.

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥24॥
24। [क्योंकि,] सब यज्ञों का ‘भोक्ता’ और ‘प्रभु’ अर्थात् स्वामी मैं ही हूँ। परन्तु वे मुझे तत्त्व की दृष्टि से नहीं जानते, इसीलिए गिरते हैं अर्थात् बार-बार संसार में जन्म लेते हैं।
२४। [कारण,] सर्व यज्ञांचा ‘भोक्ता’ आणि ‘प्रभू’ म्हणजेच स्वामी मीच आहे. पण ते मला तत्त्वदृष्ट्या जाणत नाहीत, म्हणूनच त्यांचे पतन होते—म्हणजे वारंवार ते संसारात (भौतिक जगात) जन्म घेत राहतात.

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥25॥

25। [सब प्रकार की उपासनाओं का एक ही फल नहीं होता, क्योंकि] अन्य-अन्य देवताओं को ‘ईश्वर’ समझकर जो उनकी पूजा करते हैं, वे अनित्य देवलोक को प्राप्त होते हैं, पितरों की पूजा करने वाले अनित्य पितृलोक को प्राप्त होते हैं, भूतों की पूजा करने वाले अनित्य भूतलोक को प्राप्त होते हैं और मेरी उपासना करने वाले मेरे नित्य शाश्वत लोक में जाते हैं।
२५। [सर्व प्रकारच्या उपासना एकच फळ देत नाहीत, कारण]
जे इतर देवतांना ‘ईश्वर’ मानून पूजा करतात ते अनित्य देवलोकाला पोहोचतात. पितरांची पूजा करणारे अनित्य पितृलोकाला जातात. भूतांची पूजा करणारे अनित्य भूतलोकाला पोहोचतात. आणि माझी उपासना करणारे माझ्या नित्य शाश्वत लोकाला पोहोचतात.
२५। [सर्व प्रकारच्या उपासनांचे एकच फळ नसते, कारण] जे इतर देवतांना ‘ईश्वर’ मानून त्यांची पूजा करतात, ते अनित्य देवलोकाला प्राप्त होतात. पितरांची पूजा करणारे अनित्य पितृलोकाला पोहोचतात. भूतांची पूजा करणारे अनित्य भूतलोकाला जातात. आणि माझी उपासना करणारे माझ्या नित्य शाश्वत लोकाला पोहोचतात.

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥26॥

26। [मेरी उपासना भी अत्यन्त सुखसाध्य है, देखो] जो मुझे भक्ति के साथ पत्र, पुष्प, फल, जल आदि प्रदान करता है, उस पवित्र आत्मा अर्थात् निष्काम व्यक्ति के द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पण किये हुए वे सब द्रव्य, मैं ग्रहण करता हूँ।
२६। [माझी उपासना अत्यंत सुलभ (सोपी) आहे, पाहा] जो भक्त मला पत्र (पाने), पुष्प (फुले), फळ, जल (पाणी) इत्यादी भक्तिभावाने अर्पण करतो, त्या पवित्र आत्म्याने अर्थात निष्काम व्यक्तीने भक्तिपूर्वक अर्पण केलेली ती सर्व द्रव्ये मी स्वीकारतो.

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥27॥
27। हे कौन्तेय! तुम [वैदिक और लौकिक] जो भी कर्म करते हो, जो भोजन करते हो, जो यज्ञ करते हो, जो दान करते हो, जो तपस्या अर्थात् व्रत आदि पालन करते हो, उन सबको मेरे अर्पण कर दो।
२७। हे कौन्तेय! तू [वैदिक आणि लौकिक] जे काही कर्म करतोस, जे भोजन करतोस, जे यज्ञ करतोस, जे दान करतोस, जे तप म्हणजे व्रत इत्यादी पालन करतोस—ते सर्व मला अर्पण कर.

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥28॥

28। इस प्रकार सब कर्मों को मेरे अर्पण करके तुम शुभ-अशुभ फलों वाले कर्म बंधन से छूट जाओगे और मुझमें कर्म अर्पण रूपी जो ‘संन्यास योग’ है, उसके द्वारा कर्मफल से विमुक्त होकर मुझे प्राप्त करोगे।
२८. अशा प्रकारे सर्व कर्मे मला अर्पण करून तू शुभ-अशुभ
फळ देणाऱ्या कर्मबंधनातून मुक्त होशील आणि माझ्यात कर्म-अर्पण-रूपी जो ‘संन्यास योग’ आहे, त्याच्या द्वारे कर्मफळापासून विमुक्त होऊन मला प्राप्त करशील.

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥29॥
29। [यदि कहो कि, भक्त और अभक्त के भेद अनुसार फल प्राप्ति में अन्तर है, तो सुनो] सब प्राणियों के प्रति मेरा समभाव है—न कोई मेरा प्रिय है, न कोई अप्रिय। परन्तु [इसमें एक विशेष विधि है कि] जो भक्ति के साथ मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें और मैं भी उनमें आसक्त रहता हूँ।
२९. [जर असे म्हणशील की, भक्त आणि अभक्त यांच्या भेदानुसार फलप्राप्तीत फरक आहे, तर ऐक] सर्व प्राण्यांप्रती माझा समभाव आहे— कोणीही माझा प्रिय नाही, कोणी अप्रिय नाही. परंतु [यात एक विशेष नियम आहे की] जे भक्तीने माझे भजन करतात, ते माझ्यात आणि मीही त्यांच्यात आसक्त राहतो.
२९। [जर म्हणशील की भक्त आणि अभक्त यांमध्ये फळप्राप्तीचा फरक आहे, तर ऐक] सर्व प्राण्यांबद्दल माझा समभाव आहे—कोणी माझा प्रिय नाही, कोणी अप्रिय नाही. पण [यात एक विशेष आहे की] जे भक्तिभावाने माझे भजन करतात, त्यांच्यात मी आसक्त राहतो आणि ते माझ्यात आसक्त राहतात.

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥30॥
30। जो अनन्य भक्ति सहित मेरा भजन करता है, वह यदि [अकस्मात्] अत्यन्त दुराचारी भी हो जाय तो भी उसे साधु ही मानना चाहिए—क्योंकि भक्तियोग में उसकी बुद्धि का निश्चय ठीक है। [उसका निश्चय ऐसा होता है कि—अपने पापों से मैं भले ही नरक अथवा पशु-पक्षी योनियों में चला जाऊँ, परन्तु ऐकान्तिक कृष्ण भक्ति का कभी भी परित्याग नहीं करूँगा]।

३०। जो अनन्य भक्तिसहित माझे भजन करतो, तो जर [अकस्मात] अत्यंत दुराचारी झाला तरी त्याला साधूच मानावे—कारण भक्तियोगात त्याची बुद्धी दृढ आणि योग्य आहे. [त्याचा निश्चय असा असतो की—आपल्या पापांमुळे मी नरकात किंवा पशु- पक्ष्यांच्या योनींत गेलो तरीही, ऐकान्तिक कृष्णभक्तीचा कधीही त्याग करणार नाही.]

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥31॥
31। [इस प्रकार बुद्धि का निश्चय ठीक होने के कारण] वह शीघ्र ही निर्मल आत्मा हो जाता है और उसका चित्त शान्ति प्राप्त कर पुनः क्षोभित नहीं होता। इसलिए हे कौन्तेय! तुम प्रतिज्ञा कर लो कि मेरे भक्त का कभी भी विनाश नहीं होता।
३१। [अशा प्रकारे बुद्धीचा निश्चय योग्य असल्यामुळे]
तो लवकरच निर्मल आत्मा होतो आणि त्याचे चित्त शांती प्राप्त करून पुन्हा क्षुब्ध होत नाही. म्हणूनच हे कौन्तेय! तू प्रतिज्ञा कर की माझ्या भक्ताचा कधीही विनाश होत नाही.

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
32॥
32। हे पार्थ! अधम कुल में उत्पन्न स्त्री, वैश्य और शूद्र आदि भी मेरा आश्रय लेकर निश्चय ही उत्तम गति को प्राप्त करते हैं। मेरे शुद्ध-भक्ति मार्ग में जाति-वर्ण आदि का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।
३२. हे पार्थ! अधम कुळात जन्मलेली स्त्री, वैश्य आणि शूद्र इत्यादी देखील माझा आश्रय घेऊन निश्चितच उत्तम गतीला प्राप्त होतात. माझ्या शुद्ध-भक्ती मार्गात जाति- वर्ण इत्यादींचे कोणतेही बंधन नाही.
३२। हे पार्थ! अधम कुलात जन्मलेली स्त्री, वैश्य आणि शूद्र इत्यादीही माझा आश्रय घेऊन निश्चितच उत्तम गती प्राप्त करतात. माझ्या शुद्ध-भक्तीमार्गात जात-वर्ण (वंश) यांचा कोणताही प्रतिबंध नाही.

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥33॥
33। [जब ऐसा ही है तो वहाँ] सदाचारी ब्राह्मणों तथा भक्त-राजर्षियों (क्षत्रियों) के संबंध में पुनः और क्या कहना? [अतएव मेरा अकपट उपदेश है कि,] हे अर्जुन! यह जगत अनित्य तथा दुखमय है—इसे समझकर तुम मेरा भजन करो।
३३। [जेव्हा असेच आहे, तर] सदाचारी ब्राह्मण आणि भक्त-राजर्षी (क्षत्रिय) यांच्याबद्दल पुन्हा काय सांगावे? [म्हणून माझा निष्कपट उपदेश असा आहे,] हे अर्जुन! हे जग अनित्य आणि दुःखमय आहे—हे जाणून तू माझे भजन कर.

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥34॥
इति ‘राजगुह्ययोगो’ नाम नवमोऽध्यायः।
34। [संक्षेप में उस भजन के सम्बन्ध में बता रहा हूँ, सुनो,] तुम अपने मन को मुझमें समर्पित करो, मेरे प्रति अनन्य भजनशील होओ, मेरी अर्चन में निष्ठावान् होओ एवं मुझे [परमगति समझकर] नमस्कार करो—इस प्रकार अपने आपको (अर्थात् अपने मन और देह को) मुझमें लगाकर मेरे परायण होओ, ऐसा होने पर तुम मुझे ही प्राप्त होओगे।
३४। [संक्षेपाने त्या भजनाविषयी सांगतो, ऐक] तू आपले मन माझ्यात समर्पित कर, माझ्याप्रति अनन्य भजनशील हो, माझ्या अर्चनात निष्ठावान राहा आणि मला [परमगती मानून] नमस्कार कर. अशा रीतीने आपले मन व शरीर माझ्यात अर्पण करून माझ्या परायण हो. असे झाल्यावर तू मला प्राप्त होशील.
इति नवम अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
इति नवम (नवव्या) अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.

दशमोऽध्यायः
विभूतियोगः
श्रीभगवानुवाच—
भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥1॥
1। श्रीभगवान् ने कहा,—हे महाबाहो! पुनः सुनो, पहले जो कुछ कहा है अब उससे श्रेष्ठ बात बताने जा रहा हूँ— तुम्हारा मुझमें बहुत प्रेम है इसलिए तुम्हारे मंगल की इच्छा से मैं तुम्हें [यह बात] कहता हूँ।
१। श्रीभगवान म्हणाले,—हे महाबाहो! पुन्हा ऐक. आधी जे काही सांगितले आहे त्याहून श्रेष्ठ असे ज्ञान आता सांगणार आहे. तुझे माझ्यावर फार प्रेम आहे म्हणून तुझ्या मंगलाची इच्छा करून मी तुला [हे तथ्य] सांगतो.

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः॥2॥
2। मेरे आविर्भाव के तत्त्व को न तो देवता जानते हैं और
न महर्षि लोग ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का भी आदि कारण हूँ।
२। माझ्या आविर्भावाचे तत्त्व देवतांना ज्ञात नाही आणि महर्षींनाही ज्ञात नाही, कारण मीच सर्व प्रकारे देवता आणि महर्षी यांचे आदिकारण आहे.

यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥3॥
3। जो मुझे अजन्मा (जन्मरहित), अनादि और सब लोकों का महेश्वर जानता है, वह मनुष्यों में अज्ञान-मुक्त होकर सब पापों से छूट जाता है।
३। जो मला अजन्मा (जन्मरहित), अनादि आणि सर्व लोकांचा महेश्वर (अधिपती) म्हणून जाणतो, तो मनुष्य अज्ञानातून मुक्त होऊन सर्व पापांपासून मुक्त होतो.

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयञ्चाभयमेव च॥4॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥5॥

4–5। [मेरे सर्वादित्व तथा सर्वेश्वरत्व के विषय में सुनो,] सद्बुद्धि, यथार्थ ज्ञान, असंमोह (मोह का नाश), क्षमा (सहिष्णुता), सत्य, दम (इन्द्रियों का संयम), शम (मनःसंयम), सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश और अयश आदि जीवों के नाना प्रकार के भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं।
४–५। [माझ्या सर्वादित्व आणि सर्वेश्वरत्वाविषयी ऐक.] सद्बुद्धी, यथार्थ ज्ञान, असंमोह (मोहाचा नाश), क्षमा (सहिष्णुता), सत्य, दम (इंद्रियसंयम), शम (मनःसंयम), सुख, दुःख, जन्म, मृत्यू, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश आणि अपयश इत्यादी जीवांचे नानाविध भाव माझ्यापासूनच उत्पन्न होतात.

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥6॥
6। मरीचि आदि सात महर्षि, उनसे भी पहले उत्पन्न सनक आदि चार-ब्रह्मर्षि और स्वायम्भुव आदि प्रमुख चौदह मनु—ये सब मेरी शक्ति से सम्पन्न हैं और मेरे ही मानस-पुत्र हैं। ये सब लोक इनकी ही ‘प्रजा’ अर्थात् पुत्र-पौत्र आदि या शिष्य-प्रशिष्य परम्परा से परिपूर्ण हैं।
६। मरीची इत्यादी सात महर्षी, त्यांच्यापूर्वी उत्पन्न झालेले सनक इत्यादी चार ब्रह्मर्षी आणि स्वायंभुव इत्यादी प्रमुख चौदा मनू—हे सर्व माझ्या शक्तीने संपन्न आहेत आणि माझेच मानसपुत्र आहेत. हे सर्व लोक त्यांच्या ‘प्रजा’ म्हणजेच पुत्र-पौत्र किंवा शिष्य-प्रशिष्य परंपरेने परिपूर्ण झालेले आहेत.

एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः। सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥7॥
7। जो व्यक्ति मेरी इन विभूतियों और योग को तत्त्व से जानता है, वह अविचल भक्तियोग से मेरे साथ युक्त हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है।
७। जी व्यक्ती माझ्या या विभूतींना आणि योगास तत्त्वतः जाणते, ती अविचल भक्तियोगाने माझ्याशी युक्त होते— याबद्दल काहीही शंका नाही.

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥8॥
8। मैं [ब्रह्मा-शिव आदि] सारे जगत की उत्पत्ति का कारण हूँ, मेरे से ही सारा कार्य चलता है, यह जानकर बुद्धिमान् व्यक्ति भक्ति सहित मेरा ही भजन करते हैं।

८. मीच [ब्रह्मदेव, शंकर इत्यादींसहित] संपूर्ण जगाच्या उत्पत्तीचे कारण आहे; माझ्याद्वारेच सर्व कार्य चालते. हे जाणून बुद्धिमान व्यक्ती भक्तिपूर्वक माझेच भजन करतात.

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥9॥
9। जिन अनन्य भक्तों ने अपने मन और प्राण को मेरे अर्पण
कर दिया है वे आपस में मेरी महिमासूचक कथाओं की चर्चा और मेरे नाम-रूप-गुण आदि का कीर्तन करते हुए सदा अपार आनन्द में मग्न रहते हैं, यहाँ तक कि (रागमार्गीय भजन के फलस्वरूप) रमणसुख तक को प्राप्त करते हैं।
९. जे अनन्य भक्त आपले मन आणि प्राण माझ्यात अर्पण करतात, ते आपापसात माझा महिमा वर्णन करणाऱ्या कथांची चर्चा करतात आणि माझे नाम, रूप, गुण इत्यादींचे कीर्तन करत सदैव अपार आनंदात मग्न राहतात. अशा भक्तांना (रागमार्गीय भजनाच्या फलस्वरूप) रमणसुखही प्राप्त होते.

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥10॥
10। जो निरन्तर मेरे संग की इच्छा से प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, मैं उन्हें ऐसा बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लें।
१०। जे निरंतर माझ्या संगाची इच्छा ठेवून प्रीतिपूर्वक माझे भजन करतात, त्यांना मी असा बुद्धियोग प्रदान करतो की ज्यामुळे ते मला प्राप्त करतात.

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थ ज्ञानदीपेन भास्वता॥11॥
11। उनके ऊपर कृपा करने के लिए मैं उनके अन्तःकरण (बुद्धि) में बैठकर उनके अज्ञान से उत्पन्न अंधकार को ज्ञान के प्रकाशमय दीपक से नष्ट करता हूँ।
११। त्यांच्यावर कृपा करण्यासाठी मी त्यांच्या अंतःकरणात (बुद्धीत) बसतो आणि त्यांच्या अज्ञानातून उत्पन्न झालेला अंधार ज्ञानाच्या प्रकाशमय (तेजस्वी) दीपाने नष्ट करतो.

अर्जुन उवाच—
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥12॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयञ्चैव ब्रवीषि मे॥13॥
12-13। अर्जुन ने पूछा,—हे कृष्ण, आप परब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं। देवर्षि नारद, असित, देवल, वेदव्यास आदि सब देवर्षि आपको नित्य तथा दिव्य पुरुष, आदि देव, अजन्मा और सर्वव्यापक कहते हैं। और [अभी] आप स्वयं भी मुझसे यही कह रहे हैं।
१२-१३. अर्जुनाने विचारले,—हे कृष्ण, आपण परब्रह्म, परम धाम आणि परम पवित्र आहात. देवर्षी नारद, असित, देवल, वेदव्यास इत्यादी सर्व देवर्षी आपण नित्य व दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा आणि सर्वव्यापक आहात असे म्हणतात. आणि [आता] आपण स्वतःही मला हेच सांगत आहात.

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥14॥
14। हे केशव! आप मुझे जो कुछ भी कह रहे हैं, वह मैं सब सत्य मानता हूँ। क्योंकि हे भगवन्! आपके प्रकाश तत्त्व (जन्म) को न देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं।
१४। हे केशव! आपण मला जे काही सांगत आहात ते मी सर्व सत्य मानतो. कारण हे भगवन्! आपले प्रकाशतत्त्व (जन्म) देवतांना ज्ञात नाही आणि दानवांनाही ज्ञात नाही.

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥15॥
15। हे पुरुषोत्तम! सब प्राणियों को पैदा करने वाले हे भूतभावन! भूतेश! देवों के देव! जगन्नाथ! आप स्वयं ही अपने ज्ञान के द्वारा अपने आप को जानते हैं।
१५। हे पुरुषोत्तम! हे सर्व प्राण्यांना उत्पन्न करणारे भूतभावन! हे भूतेश! हे देवांचे देव! हे जगन्नाथ! आपण स्वतःच आपल्या ज्ञानाद्वारे स्वतःला जाणता.

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥16॥

16। इसलिए आप स्वयं ही अपनी उन दिव्य विभूतियों का पूरी तरह बखान कर सकते हैं, जिनसे आप इस सम्पूर्ण जगत में व्याप्त होकर स्थित हैं।
१६. म्हणून आपण स्वतःच आपल्या त्या दिव्य विभूतींचे पूर्णपणे वर्णन करू शकता, ज्यांच्या द्वारे आपण या संपूर्ण जगात व्यापून स्थित आहात.

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥17॥
17। हे योगेश्वर (योगमाया के अधिपति)! [मुझे बतलाइए कि] मैं किस प्रकार निरन्तर चिंतन करता हुआ आपको जानूँ? और हे भगवन्! किस-किस भाव से आपका स्मरण करना चाहिए।
१७. हे योगेश्वर (योगमायेचे अधिपती)! [मला हे सांगा की]
मी निरंतर चिंतन करत असताना तुम्हाला कसे जाणावे? आणि हे भगवन्! कोणकोणत्या भावाने तुमचे स्मरण करावे?

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिञ्च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥18॥
18। हे जर्नादन! आप अपने योग-ऐश्वर्य और विभूति के विषय में मुझे फिर विस्तार से बताइए—क्योंकि आपके अमृत वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति ही नहीं हो रही।
१८। हे जनार्दन! आपल्या योग-ऐश्वर्य आणि विभूती यांविषयी मला पुन्हा सविस्तर सांगा—कारण आपल्या अमृतमय उपदेशांचे श्रवण करताना माझी तृप्तीच होत नाही.

श्रीभगवानुवाच—
हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥19॥
19। श्रीभगवान् ने कहा,—हे कुरुश्रेष्ठ! अब मैं तुम्हें अपनी मुख्य-मुख्य अलौकिक विभूतियाँ संक्षेप में बताऊँगा—क्योंकि मेरी असंख्य विभूतियाँ का तो कोई अंत ही नहीं है।
१९। श्रीभगवान म्हणाले,—हे कुरुश्रेष्ठ! आता मी तुला माझ्या मुख्य-मुख्य अलौकिक विभूतींबद्दल संक्षेपाने (अर्थात थोडक्यात) सांगतो—कारण माझ्या असंख्य विभूतींना तर अंतच नाही.

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च॥20॥
20। हे गुडाकेश (जितनिद्र)! मैं सब जीवों के हृदय में स्थित अन्तर्यामी परमात्मा हूँ और जीव मात्र का आदि, मध्य और अंत भी मैं ही हूँ अर्थात् मेरे द्वारा ही उनकी उत्पत्ति, पालन और संहार होता है।
२०। हे गुडाकेश (जितनिद्र, निद्रेवर विजय मिळविणारा अर्जुन)! मी सर्व जीवांच्या हृदयात स्थित असलेला अंतर्यामी परमात्मा आहे आणि जीवमात्राचा आरंभ, मध्य व शेवटही मीच आहे—म्हणजे त्यांची उत्पत्ती, पालन व संहार माझ्याद्वारेच होतो.

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं नक्षत्राणामहं शशी॥
21॥

21। बारह आदित्यों में मैं विष्णु (वामन) हूँ, सब ज्योतिर्मय वस्तुओं में मैं किरणमाली सूर्य हूँ। वायु देवों में मैं मरीचि हूँ और नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूँ।
२१। बारा आदित्यांमध्ये मी विष्णू (वामन) आहे; सर्व ज्योतिर्मय (तेजोमय) वस्तूंमध्ये मी किरणमाळी (महाकिरण प्रदान करणारा) सूर्य आहे. वायुदेवांमध्ये मी मरीची आहे आणि नक्षत्रांमध्ये मी चंद्र आहे.

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः। इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥22॥
22। मैं वेदों में सामवेद, देवताओं में इन्द्र, इन्द्रियों में मन और प्राणियों में चेतना अर्थात् ज्ञानशक्ति हूँ।
२२। मी वेदांमध्ये सामवेद आहे; देवतांमध्ये इंद्र आहे; इंद्रियांमध्ये मन आहे आणि प्राण्यांमध्ये चेतना म्हणजेच ज्ञानशक्ती आहे.

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥23॥
23। मैं रुद्रों में ‘शंकर’ यक्ष और राक्षसों में कुबेर, अष्ट-वसुओं में अग्नि और पर्वतों में सुमेरु हूँ।
२३। रुद्रांमध्ये मी ‘शंकर’ आहे; यक्ष आणि राक्षसांमध्ये मी कुबेर आहे; अष्टवसूंमध्ये मी अग्नी आहे आणि पर्वतांमध्ये मी सुमेरू आहे.

पुरोधसाञ्च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्। सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥24॥
24। हे पार्थ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति मुझे जानना। इसी प्रकार मैं सेनापतियों में कार्त्तिकेय और जलाशयों में समुद्र हूँ।
२४। हे पार्थ! पुरोहितांमध्ये मुख्य बृहस्पती मला जाण. त्याचप्रमाणे सेनापतींमध्ये मी कार्तिकेय आहे आणि जलाशयांमध्ये मी समुद्र आहे.

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥25॥
25। मैं महर्षियों में भृगु, वाणी में एकाक्षर प्रणव (ॐ), यज्ञों में ‘जप’ - यज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय हूँ।
२५. महर्षींमध्ये मी भृगू आहे; वाणीमध्ये एकाक्षर ‘प्रणव’ (ॐ) आहे; यज्ञांमध्ये ‘जप’-यज्ञ आहे आणि स्थिर राहणाऱ्यांमध्ये मी हिमालय आहे.

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः। गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥26॥
26। मैं सब वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में [कर्द्दमपुत्र] कपिल मुनि हूँ।
२६. मी सर्व वृक्षांमध्ये पिंपळ (अश्वत्थ) आहे; देवर्षींमध्ये नारद आहे; गंधर्वांमध्ये चित्ररथ आहे आणि सिद्धांमध्ये [कर्दमपुत्र] कपिल मुनी आहे.

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम्॥27॥

27। मुझे ही घोड़ों में [समुद्र-मंथन के समय प्रकटित] उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, हाथियों में ऐरावत तथा मनुष्यों में राजा जानना।
२७। घोड्यांमध्ये [समुद्र-मंथनाच्या वेळी प्रकट झालेला] उच्चैःश्रवा नावाचा घोडा, हत्तींमध्ये ऐरावत, तसेच मनुष्यांमध्ये राजा—मलाच समज.
२७. घोड्यांमध्ये मला [समुद्रमंथनाच्या वेळी प्रकट झालेला] उच्चैःश्रवा घोडा मान; हत्तींमध्ये मला ऐरावत मान; आणि मनुष्यांमध्ये मला राजा मान.

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्। प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥28॥
28। मैं शस्त्रों में वज्र, गौओं में ‘कामधेनु’, सन्तान
की उत्पत्ति का मूल कारण कामदेव और [एक मस्तक वाले] सर्पों में [उनका राजा] वासुकि हूँ।
२८. शस्त्रांमध्ये मी वज्र आहे; गायींमध्ये मी ‘कामधेनू’ आहे; संततीच्या उत्पत्तीचे मूळ कारण असलेला कामदेव मीच आहे; आणि [एक मस्तक असलेल्या] सर्पांमध्ये त्यांचा राजा वासुकी मीच आहे.

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥29॥
29। मैं [अनेक मस्तकों वाले विषहीन] नागों में अनन्त (शेषनाग), जलचर प्राणियों में जलदेवता ‘वरुण’, पितरों में ‘अर्यमा’ नामक पितर और दण्ड देने वालों में यमराज हूँ।
२९। मी [अनेक फणा असलेल्या बिनविषारी] नागांमध्ये अनन्त (शेषनाग), जलचर प्राण्यांमध्ये जलदेवता ‘वरुण’, पितरांमध्ये ‘अर्यमा’ नावाचा पितर आणि दंड (सजा) देणाऱ्यांमध्ये यमराज आहे.

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥30॥
30। मैं दैत्यों में प्रह्लाद, वशीकारियों में काल, पशुओं में सिंह तथा पक्षियों में विनतानन्दन गरुड़ हूँ।
३०। मी दैत्यांमध्ये प्रह्लाद, वश करणाऱ्यांमध्ये काळ, पशूंमध्ये सिंह आणि पक्षांमध्ये विनतानंदन गरुड आहे.

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥31॥
31। मैं वेगवान् और पवित्रकारी वस्तुओं में पवन, शस्त्रधारियों में परशुराम, मछलियों में मगरमच्छ तथा नदियों में गंगा हूँ।
३१। मी वेगवान आणि पवित्र करणाऱ्या वस्तूंमध्ये पवन (वारा), शस्त्र धारण करणाऱ्यांमध्ये परशुराम, मत्स्यांमध्ये (जलचरांमध्ये) मगर आणि नद्यांमध्ये गंगा आहे.

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहमर्जुन। अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥32॥
32। हे अर्जुन! मैं ही जड़-सृष्टि का आदि, मध्य तथा अन्त हूँ, समस्त विद्याओं में अध्यात्म-विद्या अर्थात् आत्मज्ञान हूँ तथा वक्ता के वाद, जल्पना और वितण्डा—इन तीन कथाओं में तत्त्व निर्णय करने वाला ‘वाद’ हूँ।
३२। हे अर्जुन! मीच जड (भौतिक) सृष्टीचा आदि, मध्य आणि अंत आहे. सर्व विद्यांमध्ये मी अध्यात्मविद्या—म्हणजे आत्मज्ञान आहे. तसेच वक्त्याच्या वाद, जल्पना आणि वितंडा या तीन प्रकारच्या कथांमध्ये (चर्चेंमध्ये) तत्त्वनिर्णय करणारा ‘वाद’ मीच आहे.

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च। अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥33॥
33। मैं अक्षरों में ‘अ’-कार, समासों में ‘द्वन्द्व’ नामक समास, संहार करने वालों में महाकाल रुद्र एवं सृष्टि करने वालों में सर्वमुखी ब्रह्मा हूँ।
३३। मी अक्षरांमध्ये ‘अ’-कार (‘अ’ हे अक्षर), समासांमध्ये ‘द्वंद्व’ नावाचा समास, संहार करणाऱ्यांमध्ये महाकाल रुद्र आणि सृष्टी करणाऱ्यांमध्ये सर्वमुखी ब्रह्मदेव आहे.

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्। कीर्त्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥34॥

34। मैं हरण करने वालों में सर्व-स्मृति-हर मृत्यु, भावी वस्तुओं में जन्म, स्त्रियों में कीर्त्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा-रूपिणी सात धर्मपत्नियाँ हूँ।
३४. मी हरण करणाऱ्यांमध्ये सर्व स्मृती हरण करणारा मृत्यू, भावी काळात उत्पन्न होणाऱ्या वस्तूंमध्ये जन्म, आणि स्त्रियांमध्ये कीर्ती, श्री, वाणी, स्मृती, मेधा, धृती तसेच क्षमा या रूपाने असलेल्या सात धर्मपत्न्या आहे.

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्रीच्छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥35॥

35। मैं सामवेदों में इन्द्र-स्तुति रूप बृहत् साम, छंदों में गायत्री, महीनों में मार्गशीष अग्रहायण और ऋतुओं में कुसुमाकर बसन्त ऋतु हूँ।
३५. मी सामवेदांमध्ये इंद्राची स्तुती म्हणून गायले जाणारे बृहत्साम, छंदांमध्ये गायत्री, महिन्यांमध्ये मार्गशीर्ष म्हणजेच अग्रहायण आणि ऋतूंमध्ये कुसुमाकर अर्थात वसंत ऋतू आहे.
३५. मी सामवेदांमध्ये इंद्राच्या स्तुतीरूप बृहत्साम, छंदांमध्ये गायत्री, महिन्यांमध्ये मार्गशीर्ष (अग्रहायण) आणि ऋतूंमध्ये कुसुमाकर म्हणजेच वसंत ऋतू आहे.

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥36॥
36। मैं ही परस्पर छल करने वालों में द्युतक्रीड़ा (जुआ), तेजस्वियों का तेज, विजयी होने वालों में जय तथा बलवानों का बल हूँ।
३६. मीच एकमेकांची फसवणूक करणाऱ्यांमध्ये द्यूतक्रीडा (जुगार), तेजस्वी लोकांचे तेज, विजयी होणाऱ्यांमध्ये जय आणि बळवंतांचे बळ आहे.

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः। मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशनाः कविः॥137॥
37। मैं ही वृष्णियों (यादवों) में वसुदेव-पुत्र
— ‘बलराम’, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में वेदव्यास और पण्डितों में ‘शुक्राचार्य’ नामक पण्डित हूँ।
३७. मीच वृष्णींमध्ये (यादवांमध्ये) वसुदेव-पुत्र
— ‘बलराम’, पांडवांमध्ये अर्जुन, मुनींमध्ये वेदव्यास आणि पंडितांमध्ये ‘शुक्राचार्य’ नावाचा पंडित आहे.

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥38॥
38। मैं दमन करने वालों में दण्ड, जीतने की अभिलाषा करने वालों में साम-दाम आदि नीति, गोपनीय कार्यों में मौन तथा ज्ञानियों का ज्ञान हूँ।
३८. मी दमन करणाऱ्यांमध्ये दंड आहे; विजयाची अभिलाषा करणाऱ्यांमध्ये साम-दाम इत्यादी नीती आहे; गुप्त

कार्यांमध्ये मौन आहे; आणि ज्ञानी लोकांचे ज्ञान आहे.

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥39॥
39। [सार बात यह है,] हे अर्जुन! सब प्राणियों की उत्पत्ति का मूल कारण अर्थात् बीज रूप से जो कुछ भी है, वह मैं ही हूँ। क्योंकि ऐसी कोई चर-अचर वस्तु नहीं है जिसकी सत्ता मेरे बिना हो।
३९. [सारांश हा आहे,] हे अर्जुन! सर्व प्राणिमात्रांच्या उत्पत्तीचे मूळ कारण म्हणजेच बीज रूपाने जे काही आहे, ते मीच आहे. कारण अशी कोणतीही चर-अचर वस्तू नाही जिची सत्ता माझ्यावाचून असेल.

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥40॥
40। हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियों का कोई अंत नहीं है। अपनी विभूतियों का यह विस्तार तो मैंने तुम्हें संक्षेप में कहा है।
४०. हे परंतप! माझ्या दिव्य विभूतींना अंत नाही. आपल्या विभूतींचा हा विस्तार मी तुला संक्षेपाने सांगितला आहे.

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥41॥
41। जो-जो वस्तु ऐश्वर्य, ‘श्री’ (सौन्दर्य) या शक्ति युक्त है, उसको तुम मेरे ही तेज के एक अंश से उत्पन्न जानो।
४१. जी-जी वस्तू ऐश्वर्य, ‘श्री’ म्हणजे सौंदर्य किंवा शक्ती यांनी युक्त आहे, ती-ती वस्तू तू माझ्याच तेजाच्या एका अंशापासून उत्पन्न झाली आहे असे जाण.

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥42॥
इति ‘विभूतियोगो’ नाम दशमोऽध्यायः॥
42। अथवा हे अर्जुन! [मेरी विभूतियों के विषय में] तुम्हें इतनी जानकारी की क्या आवश्यकता है? तुम बस इतना जानो कि मैंने इस समग्र जगत को अपने शक्ति के एक अंश मात्र

[redacted]

[redacted]. [redacted] [redacted]! [redacted] [redacted]? [redacted] [redacted] [redacted]

एकादशोऽध्यायः
विश्वरूप-दर्शनयोगः अर्जुन उवाच—
मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥1॥
1। अर्जुन ने कहा,—[हे केशव!] आपने कृपापूर्वक जो ‘अध्यात्म’ नामक अत्यन्त रहस्यपूर्ण ज्ञान मुझे दिया है, उससे मेरा यह मोह दूर हो गया है [और अब मैं समझ गया हूँ कि यह विश्वरूप तो आपके इस कृष्ण स्वरूप का एक अंश मात्र है]।
१. अर्जुन म्हणाला—[हे केशव!] आपण कृपापूर्वक मला ‘अध्यात्म’ नावाचे अत्यंत रहस्यमय ज्ञान दिले आहे. त्या ज्ञानामुळे माझा मोह दूर झाला आहे [आणि आता मला समजले आहे की हे विश्वरूप तुमच्या कृष्णस्वरूपाचा केवळ एक अंश आहे].

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥2॥
2। हे कमलनयन! आपके द्वारा ही जीवों की सृष्टि और संहार होता है, इसे मैंने विस्तार से सुना और इसके साथ ही आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी।
२. हे कमलनयन! आपल्यामुळेच जीवांची उत्पत्ती आणि संहार होतो, हे मी विस्ताराने ऐकले आणि त्यासोबतच आपला अविनाशी महिमाही ऐकला.

एवमेतद् यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर। द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥3॥
3। हे परमेश्वर! आपने अपने सम्बन्ध में जैसा वर्णन किया है, यह ठीक वैसा ही है, [इसमें कोई संशय नहीं, फिर भी सबके मंगल के लिए] हे पुरुषोत्तम! मैं आपके ऐश्वर्यमय रूप का दर्शन करने की इच्छा करता हूँ।
३. हे परमेश्वर! आपण आपल्या विषयी जसे वर्णन केले आहे,
ते अगदी तसेच सत्य आहे—[याबद्दल मला काहीही संशय नाही. तरीही, सर्वांच्या मंगलासाठी,] हे पुरुषोत्तम! मला आपल्या ऐश्वर्यमय रूपाचे दर्शन करण्याची इच्छा आहे.
३. हे परमेश्वर! आपण आपल्यासंबंधी जसे वर्णन केले आहे,
ते अगदी तसेच आहे, [यात कोणताही संशय नाही, तरीही सर्वांच्या कल्याणासाठी] हे पुरुषोत्तम! मी आपल्या

ऐश्वर्यमय रूपाचे दर्शन करण्याची इच्छा करतो.

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥4॥
4। हे प्रभु! यदि आप समझते हैं कि मेरे लिए आपके उस रूप
का दर्शन करना सम्भव है, तो हे योगेश्वर! अपने उस अविनश्वर योगैश्वर्य (स्वरूप) का मुझे दर्शन कराइए।
4। हे प्रभू! जर आपल्याला असे वाटत असेल की, माझ्यासाठी आपल्या त्या रूपाचे दर्शन घेणे शक्य आहे, तर हे योगेश्वर! आपल्या त्या अविनश्वर योगैश्वर्याचे (अविनाशी स्वरूपाचे) मला दर्शन घडवा.

श्रीभगवानुवाच—
पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥5॥
5। श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ! अब तुम मेरे अनेक प्रकार के, अनेक रंगों के और आकारों के सैंकड़ों-हजारों दिव्य रूपों को देखो।
5। श्रीभगवान म्हणाले—“हे पार्थ! आता तू माझी शेकडो आणि हजारो दिव्य रूपे पाहा, जी विविध प्रकारची आहेत आणि ज्यांचे रंग व आकारही अनेकविध आहेत.”
५. श्रीभगवान म्हणाले—हे पार्थ! आता तू माझी शेकडो- हजारो दिव्य रूपे पाहा, जी अनेक प्रकारची, अनेक रंगांची आणि अनेक आकारांची आहेत.

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा। बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥6॥
6। हे भारत! तुम बारह आदित्यों, आठ वसुओं, ग्यारह रुद्रों, दोनों अश्विनी कुमारों, मरुद्गण आदि देवताओं का दर्शन करो; और भी अनेक आश्चर्यमय रूपों का दर्शन करो, जो तुमने पहले कभी न देखे होंगे।
६. हे भारत! तू बाराही आदित्य, आठ वसू, अकरा रुद्र, दोन्ही अश्विनी कुमार, एकोणपन्नास मरुद्गण आणि इतर देवतांचे दर्शन कर. तसेच अनेक आश्चर्यकारक रूपे पाहा, जी तू

यापूर्वी कधीही पाहिली नाहीत.

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥7॥

7। हे गुडाकेश (जितनिद्र)! मेरे इस देह के अंदर ही एकत्रित सारे चराचर जगत को तुम देख लो। इसके अलावा मन ही मन और भी जो कुछ तुम्हारी देखने की इच्छा हो, उसे भी यहाँ देख लो।
7। हे गुडाकेश (जितनिद्र, निद्रेवर विजय मिळवणारा अर्जुन)! माझ्या या एकाच शरीरात तू संपूर्ण चराचर जगताला एकत्रितपणे पाहा. याशिवाय, तुझ्या मनात जे जे काही पाहण्याची इच्छा असेल, ते सर्व तू येथे पाहू शकतोस.

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥8॥
8। किन्तु तुम अपने इन जड़ नेत्रों से मेरे इस विश्वरूप का दर्शन नहीं कर सकते हो। इसलिए मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान कर रहा हूँ जिससे तुम मेरी ऐश्वरिक योगशक्ति को देख सकोगे।
८। परंतु तू तुझ्या या प्राकृत नेत्रांनी माझ्या या विश्वरूपाचे दर्शन करू शकणार नाहीस. म्हणून मी तुला दिव्य नेत्र देत आहे, जेणेकरून तू माझी ऐश्वरिक (ईश्वरी) योगशक्ती पाहू शकशील.

संजय उवाच—
एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥9॥

9। संजय ने कहा—हे राजन् (धृतराष्ट्र), ऐसा कहकर महायोगेश्वर श्रीहरि ने अर्जुन को अपने परम ऐश्वर्य-युक्त दिव्य रूप (विश्वरूप) का दर्शन कराया।
९। संजय म्हणाला—हे राजन् (धृतराष्ट्र), असे बोलून महायोगेश्वर श्रीहरींनी अर्जुनाला आपले परम ऐश्वर्याने युक्त दिव्य रूप (विश्वरूप) दाखवले.

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥10॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥11॥
10-11। [भगवान् के जिस स्वरूप का अर्जुन ने दर्शन किया,
उस अद्भुत रूप में] कितने असंख्य मुख और नेत्र थे। अहो! कितने अद्भुत दर्शन, कितने दिव्य अलंकारों से विभूषित, कितने दिव्य अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित, दिव्य माला और वस्त्रों से सुशोभित, दिव्य सुगन्धियों से लिप्त ज्योतिर्मय एवं सब प्रकार के आश्चर्यों से पूर्ण वह रूप चारों ओर मुख विशिष्ट एवं अंतहीन था।
10-11. [भगवंतांच्या ज्या रूपाचे अर्जुनाने दर्शन घेतले, त्या अद्भुत रूपाला] असंख्य मुखे आणि असंख्य नेत्र होते. अहो! किती अद्भुत दर्शन! ते रूप अनेक दिव्य अलंकारांनी विभूषित होते आणि अनेक दिव्य अस्त्र-शस्त्रांनी सुसज्ज होते. दिव्य माळा व वस्त्रांनी सुशोभित, दिव्य सुगंधांनी चर्चिलेले, ज्योतिर्मय, तेजाने झळाळणारे, आणि सर्व प्रकारच्या आश्चर्यांनी परिपूर्ण असे ते रूप सर्व बाजूंनी मुखे असलेले व अंत नसलेले होते.

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥12॥
12। आकाश में हज़ारों सूर्य एक साथ उदय होने से जो प्रकाश होगा, वह भी शायद ही उस महान् विश्वरूप की प्रभा के समान दीख पड़े।
12| आकाशात हजारो सूर्य एकत्र उगवण्याने जो प्रकाश होईल, तोसुद्धा त्या महान विश्वरूपाच्या प्रभेसारखा कदाचितच भासेल.
12। आकाशात एकाच वेळी हजारो सूर्यांचा उदय झाला, तर

त्यातून जो प्रकाश निर्माण होईल, तो देखील त्या विश्वरूपाच्या तेजाची बरोबरी करू शकणार नाही.
१२। आकाशात एकाच वेळी हजारो सूर्य उगवले तर जो प्रकाश होईल, तोही कदाचित त्या महान विश्वरूपाच्या तेजापुढे फिका पडेल.

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा। अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥13॥
13। अर्जुन ने उस समय विविध प्रकार से बँटे हुए निखिल ब्रह्माण्ड को देवादिदेव श्रीभगवान् के इस विराट शरीर में एक जगह एकत्रित देखा।
13। त्या वेळी अर्जुनाने अनेक प्रकारे विभागलेले संपूर्ण ब्रह्माण्ड, देवादिदेव श्रीभगवंतांच्या त्या विराट शरीरात एकाच ठिकाणी एकत्रित पाहिले.
१३। त्यावेळी अर्जुनाने विविध प्रकारांनी विभागलेले संपूर्ण ब्रह्मांड देवादिदेव श्रीभगवानांच्या त्या विराट शरीरात एकाच ठिकाणी एकत्रित पाहिले.

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥14॥
14। इससे आश्चर्यचकित और रोमांचित अर्जुन श्रीभगवान्
को नतमस्तक होकर प्रणाम करते हुए हाथ जोड़कर कहने लगा।
14| त्यामुळे अत्यंत आश्चर्यचकित झालेल्या आणि अंगावर रोमांच उभे राहिलेल्या अर्जुनाने, भगवान श्रीकृष्णांना नतमस्तक होऊन प्रणाम केला आणि हात जोडून तो म्हणू लागला.
१४। यामुळे आश्चर्यचकित आणि रोमांचित झालेला अर्जुन श्रीभगवतांना नतमस्तक होऊन प्रणाम करीत हात जोडून बोलू लागला.

अर्जुन उवाच—
पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्। ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥15॥
15। अर्जुन ने कहा,—हे देव! आपके इस शरीर में विराजमान
सब देवताओं को, सारे प्राणी समुदाय को, कमल के आसन पर बैठे

ब्रह्मा को, शिव को, सब ऋषियों को तथा सब दिव्य सर्पों को भी मैं देख रहा हूँ।
15। अर्जुन म्हणाला—हे देव! आपल्या या शरीरामध्ये मी सर्व देवांना, सर्व प्राण्यांच्या समुदायाला, कमळाच्या आसनावर बसलेल्या ब्रह्मदेवांना, महादेवांना (शकरांना), सर्व ऋषींना आणि सर्व दिव्य सर्पांना पाहत आहे.
१५। अर्जुन म्हणाला,—हे देव! तुमच्या या शरीरात मी सर्व देवतांना, सर्व प्राणीसमूहांना, कमलासनावर विराजमान असलेल्या ब्रह्मदेवांना, शकरांना, सर्व ऋषींना आणि सर्व दिव्य सर्पांनाही पाहत आहे.

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्। नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥16॥
16। हे विश्वेश्वर! विश्वरूप! आपके असंख्य भुजा, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त सर्वव्यापी अनन्त रूप को मैं देख रहा हूँ; किन्तु आपका आदि, मध्य और अन्त मुझे कहीं दिखाई नहीं देता।
16। हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप! मी आपल्याला असंख्य हात, पोटे (उदरे), मुखे आणि डोळ्यांनी युक्त अशा सर्वव्यापी अनंत रूपात पाहत आहे; परंतु मला आपला आदि, मध्य आणि अंत कोठेही दिसून येत नाही.

किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्- दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥17॥
17। [पुनः] आपका यह मुकुट, गदा, चक्र धारण किये तथा सब
ओर प्रकाश फैलाता तेज का पुंज स्वरूप मैं देख रहा हूँ— चारों ओर से धधकती अग्नि और देदीप्यमान सूर्य के समान आपकी प्रभा का दर्शन करना बहुत कठिन हो रहा है।
१७। [पुन्हा] मी आपल्याला मुकुट, गदा आणि चक्र धारण केलेले तसेच सर्वत्र प्रकाश पसरवणाऱ्या तेजाच्या पुंजस्वरूपात पाहत आहे—चारही बाजूंनी धगधगणाऱ्या अग्निप्रमाणे आणि देदीप्यमान सूर्याप्रमाणे आपल्या

प्रभेचे दर्शन करणे अत्यंत कठीण होत आहे.
17। [पुन्हा] मी आपल्याला मुकुट, गदा आणि चक्र धारण केलेल्या तसेच सर्व बाजूंनी प्रकाश पसरवणाऱ्या एका तेजपुंज स्वरूपात पाहत आहे. चहूकडून धधकणाऱ्या अग्नीप्रमाणे आणि प्रखर सूर्याप्रमाणे असलेल्या आपल्या या तेजाचे दर्शन घेणे अत्यंत कठीण (दुर्निरीक्ष्य) झाले आहे.

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्। त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥18॥
18। [इस प्रकार हे महामहिम! आपके संबंध में] मेरा यह अभिमत है कि, आप ही मुक्त पुरुषों के जानने योग्य परम अक्षर-तत्त्व परब्रह्म हैं, इस विश्व के अन्तिम आश्रय हैं, सनातन धर्म के रक्षक हैं और अविनाशी सनातन पुरुष हैं।
१८। [अशा प्रकारे हे महामहिम! आपल्याविषयी] माझे हे अभिमत आहे की, आपणच मुक्त पुरुषांद्वारे जाणण्यास योग्य असे परम अक्षर-तत्त्व परब्रह्म आहात, आपणच या विश्वाचे अंतिम आश्रयस्थान आहात, सनातन धर्माचे रक्षक आहात आणि अविनाशी सनातन पुरुष आहात.

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्। पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥19॥

19। मैं देख रहा हूँ कि आपका आदि, मध्य और अंत नहीं है। आपका सामर्थ्य अपार है, असंख्य भुजाएँ हैं, चन्द्र-सूर्य आपके नेत्र हैं, आपका मुख जलती हुई अग्नि के समान तेजस्वी है और अपने तेज से आप इस सम्पूर्ण विश्व को तपा रहे हैं।
१९। मी पाहत आहे की आपला आदि (आरंभ), मध्य आणि अंत (शेवट) नाही. आपले सामर्थ्य अपार आहे, आपल्या असंख्य भुजा आहेत, चंद्र आणि सूर्य हेच आपले नेत्र आहेत, आपले मुख जळत्या अग्निप्रमाणे तेजस्वी आहे आणि आपल्या तेजाने आपण संपूर्ण विश्वाला तापवत आहात.

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः। दृष्ट्वाद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥20॥
20। पृथ्वी तथा स्वर्ग के बीच में अवस्थित सम्पूर्ण अंतरिक्ष में और सब दिशाओं में आप अकेले व्याप्त हैं। हे महात्मन्! आपके इस अद्भुत तथा उग्र रूप को देखकर तीनों लोक भय से काँप रहे हैं।
20। पृथ्वी आणि स्वर्ग यांच्यामधील संपूर्ण अंतरिक्ष आणि सर्व दिशांमध्ये आपण एकटेच व्यापून आहात. हे महात्मन्! आपले हे अद्भुत आणि उग्र रूप पाहून तिन्ही लोक भयाने थरथर कापत आहेत.

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति। स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥21॥
21। वे देवगण शरणागत होकर आपमें प्रवेश कर रहे हैं; कुछ
तो भय से हाथ जोड़े आपका गुणगान कर रहे हैं; महर्षि और सिद्धों के समूह ‘विश्व का मंगल हो’ इस प्रकार स्वस्तिवाचन कर उत्तम-उत्तम स्तुतियाँ करते हुए आपका दर्शन कर रहे हैं।
२१. ते देवगण शरणागत होऊन आपल्यामध्ये प्रवेश करत आहेत; काही जण तर भयाने हात जोडून आपले गुणगान करत आहेत; महर्षी आणि सिद्धांचे समूह ‘विश्वाचे कल्याण होवो’ असे स्वस्तिवाचन करून उत्तमोत्तम स्तुती करत आपले दर्शन घेत आहेत.

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च। गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥22॥
22। रुद्र और आदित्यगण, वसु और साध्यगण, विश्वदेवगण, दोनों अश्विनी कुमार,, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समूह सब आपको विस्मित होकर देख रहे हैं।
२२। रुद्र आणि आदित्यगण, वसू आणि साध्यगण, विश्वदेवगण, दोन्ही अश्विनीकुमार,, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, असुर आणि सिद्धांचे समूह —हे सर्व आपल्याला विस्मित होऊन पाहत आहेत.

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्। बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥23॥
23। हे महाबाहो! आपका यह विराट् रूप असंख्य मुख, असंख्य नेत्र, असंख्य भुजाएँ, जंघा तथा चरण, असंख्य पेट और असंख्य दांतों के कारण भयंकर दीखता है तथा इसे देखकर सभी लोक और मैं स्वयं भय से विह्वल हो रहे हैं।
२३। हे महाबाहो! आपले हे विराट रूप असंख्य मुख, असंख्य नेत्र, असंख्य भुजा (बाहू), जांघा व चरण (पाय), असंख्य उदर (पोट) आणि असंख्य दातांमुळे अत्यंत भयंकर दिसत आहे; आणि ह्याला पाहून सर्व लोक तसेच मी स्वतः भयाने विह्वल होत आहे.

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्। दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमञ्च विष्णो॥24॥
24। हे विष्णो! आपका यह गगनचुम्बी रूप तेजस्वी और अनेक विचित्र रूप-रंग वाला है। इसके मुख खुले हैं तथा नेत्र प्रज्ज्वलित एवं विशाल हैं। इस प्रकार आपके दर्शन करके मैं अत्यंत भयभीत हो रहा हूँ, धैर्य धारण नहीं कर पा रहा हूँ और शांति भी नहीं मिल रही है।
२४। हे विष्णो! आपले हे गगनाला स्पर्श करणारे रूप

तेजस्वी आणि अनेक विचित्र रूप-रंगांनी युक्त आहे. याची मुखे उघडलेली आहेत आणि डोळे प्रज्वलित व विशाल आहेत. अशा प्रकारे आपले दर्शन घेऊन मी अत्यंत भयभीत झालो आहे, धैर्य धरू शकत नाही आणि मनाला शांतीही लाभत नाही.

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥25॥
25। आपके विकराल दांतों वाले मुख मानो प्रलय-अग्नि के कुण्ड हैं—इन सबको देखकर मैं दिशाओं का निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ और धैर्य धारण भी नहीं कर पार रहा हूँ। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होवें।
२५। आपल्या विक्राळ दातांनी युक्त मुखे जणू प्रलयाग्नीची कुंडेच आहेत—हे सर्व पाहून मला दिशांचा निर्णय होत नाही आणि धैर्यही धारण करता येत नाही. हे देवेश! हे जगन्निवास! आपण प्रसन्न व्हावे.

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥26॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः॥27॥

26–27। [अहो, अब देख रहा हूँ, युद्ध का क्या भीषण परिणाम है!] यह देखो, धृतराष्ट्र के ये पुत्र, साथ में समस्त राजागण, तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण एवं हमारे पक्ष के प्रधान-प्रधान योद्धागण भी आपके विकराल दांतों वाले भयानक मुखगुहाओं में तेज़ी से प्रवेश कर रहे हैं—किसी-किसी का कुचला हुआ मस्तक आपके दाँतों में फँसा हुआ है॥26-27॥
२६–२७। [अहो, आता मी पाहतो आहे, युद्धाचा किती भयानक परिणाम आहे!] हे पाहा, धृतराष्ट्राचे हे पुत्र, त्यांच्यासोबत सर्व राजे, तसेच भीष्म, द्रोण, कर्ण आणि आपल्या पक्षातील प्रमुख-प्रधान योद्धेही आपल्या विक्राळ दातांनी युक्त भयंकर मुखगुहांमध्ये वेगाने प्रवेश करत आहेत—काहींची चिरडलेली मस्तके आपल्या दातांमध्ये अडकलेली आहेत ॥२६-२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति॥28॥
28। जैसे नदियों की सब भारी जलधाराएँ समुद्र की ओर ही दौड़ती हैं, वैसे ही इस नरलोक के ये सब शूरवीर भी आपके ज्वलंत मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।
२८। ज्याप्रमाणे नद्यांच्या सर्व प्रचंड जलधारा समुद्राकडेच धाव घेतात, त्याचप्रमाणे या मनुष्यलोकातील (नरलोकातील) हे सर्व शूरवीरही आपल्या प्रज्वलित मुखांमध्ये प्रवेश करत आहेत.

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥29॥
29। [अथवा] जैसे पतंगे मरने के लिए भाग-भागकर जलती हुई अग्नि में जा पड़ते हैं, वैसे ही ये सब नरवीर भी ध्वंस होने के लिए तीव्रता से आपके मुख-गुहाओं में प्रवेश कर रहे हैं।
29। [अथवा] ज्याप्रमाणे पतंग (दिव्याच्या प्रकाशाकडे आकर्षित होऊन स्वतःचा जीव देणारे कीटक) आपल्या विनाशासाठी अत्यंत वेगाने धावत जाऊन जळत्या अग्नीमध्ये पडतात, अगदी

त्याचप्रमाणे हे सर्व लोक (नरवीर) देखील स्वतःच्या विनाशासाठी तुमच्या गुहांसारख्या मुखांमध्ये अत्यंत वेगाने प्रवेश करत आहेत.

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता- ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥30॥
30। हे विष्णु! आप उन सब लोगों को अपने जलते हुए मुखों
से सब तरफ निगलते हुए फिर चाट भी रहे हैं। आपके अंग की तीव्र ज्योति से निकलता हुआ तेज चारों ओर फैलकर समग्र जगत को जलाकर राख कर रहा है।
30। हे विष्णू! आपण त्या सर्व लोकांना आपल्या प्रज्वलित (जळत्या) मुखांनी सर्व बाजूंनी गिळंकृत करत आहात आणि पुन्हा पुन्हा चाटत आहात. आपल्या शरीराच्या प्रखर प्रकाशातून निघणारे तेज सर्वत्र पसरून संपूर्ण जगाला जाळून भस्मसात करत आहे.

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद। विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥31॥
31। हे देव, कृपया मुझे बताइए कि ऐसे उग्र रूप वाले आप कौन हैं [अर्थात् क्या आप वही परम स्निग्ध श्रीकृष्ण हैं, अथवा अन्य कोई और हैं]। हे देवों में श्रेष्ठ! आपको नमस्कार है, आप प्रसन्न होवें। मैं विशेष रूप से जानना चाहता हूँ कि आप आदिपुरुष कौन हैं, क्योंकि आपकी इस प्रकार [ध्वंस करने वाली] प्रवृत्ति क्यों है, वह मैं नहीं जानता।
३१। हे देव, कृपया मला सांगा की अशा उग्र रूपातील
आपण कोण आहात? [म्हणजे आपण तेच परम स्निग्ध (सौम्य) श्रीकृष्ण आहात, की अन्य कोणी वेगळे आहात?]. हे देवांमध्ये श्रेष्ठ! आपल्याला नमस्कार असो, आपण प्रसन्न व्हावे. आपण आदिपुरुष कोण आहात हे मी विशेषत्वाने जाणून घेऊ इच्छितो, कारण आपली ही [संहार करणारी] प्रवृत्ती कशासाठी आहे, ते मला समजत नाही.
३१। हे देव! कृपया मला सांगा की अशा उग्र रूपाचे आपण

कोण आहात? [अर्थात काय आपण तेच परम स्निग्ध श्रीकृष्ण आहात की अन्य कोणी आहात?] हे देवांमध्ये श्रेष्ठ! आपणास नमस्कार असो, आपण प्रसन्न व्हावे. मी विशेषतः जाणून घेऊ इच्छितो की आपण आदिपुरुष कोण आहात, कारण आपल्या या [ध्वंस करणाऱ्या] प्रवृत्तीचे कारण मला समजत नाही.

श्रीभगवानुवाच—
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥32॥
32। श्रीभगवान् ने कहा,—हे अर्जुन, मैं सब लोकों का नाश करने वाला महाकाल हूँ, इस समय समस्त लोकों का संहार करने के लिए ही प्रवृत्त हुआ हूँ। इन सेनाओं में खड़े ये सारे योद्धा, तुम्हारे युद्ध न करने पर भी जीवित नहीं रहेंगे।
३२। श्रीभगवान म्हणाले,—हे अर्जुन! मी सर्व लोकांचा नाश करणारा महाकाल आहे. या वेळी मी समस्त लोकांचा संहार करण्यासाठी प्रवृत्त झालो आहे. या सेनांमध्ये उभे असलेले हे सर्व योद्धे, तू युद्ध केले नाहीस तरीही, जीवित राहणार नाहीत.

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥33॥
33। अतएव तुम युद्ध के लिए तैयार हो जाओ, शत्रुओं को जीतकर यश लाभ करो एवं समृद्ध राज्य भोग करो। ये सभी योद्धागण पहले से ही ‘काल’-स्वरूप मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। अतः हे सव्यसाची अर्जुन! तुम तो इनको मारने में केवल निमित मात्र बन जाओ।
३३। म्हणून तू युद्धासाठी सज्ज हो, शत्रूंवर विजय मिळवून यश प्राप्त कर आणि समृद्ध राज्याचा भोग कर. हे सर्व योद्धे आधीच ‘काल’-स्वरूप माझ्याद्वारे मारले गेले आहेत. म्हणूनच, हे सव्यसाची अर्जुन! त्यांना मारण्यात तू फक्त निमित्तमात्र हो.

द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥34॥
34। मेरे द्वारा मारे जा चुके द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और दूसरे सभी शूरवीर योद्धाओं का भी तुम वध करो। [ये सब नियम मेरे ही द्वारा बनाए गए हैं, इसलिए] घबराओ मत, युद्ध करो—तुम युद्ध में शत्रुओं पर निश्चय ही विजय प्राप्त करोगे ॥34॥
३४। माझ्याद्वारे आधीच मारले गेलेल्या द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण आणि इतर सर्व शूरवीर योद्ध्यांचाही तू वध कर. [हे सर्व नियम माझ्याच द्वारे ठरवले गेले आहेत, म्हणून] घाबरू नकोस, युद्ध कर—तू युद्धात शत्रूंवर नक्कीच विजय प्राप्त करशील.

सञ्जय उवाच—
एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी। नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥35॥

35□ □□□□ □□ □□□□□□□□□□ □□ □□□—□□□□□□ □□□□□□□□ □□ □□ □□□□□ □□ □□□□□ □□□□□□ □□ □□□□□□□-□□□□□□ □□□ □□□□□□ □□□□□□ □□□□□□ □□□□□ □□□□□ □□□□□ □□□□□ □□□□□□ □□□□ □□□□□□□ □□□□ □□ □□□□□□□□□□ □□ □□□ □□□□

□□□ □□□□ □□□□□□□□□□□□□□ □□□□□□□—□□□□□ □□□□□□□□□□□□□ □□ □□□□□ □□□□ □□□□□□ □□□□□ □□□□ □□□□ □□□ □□□□□ □□□□□□□ □□□□□□□ □□□ □□□□□. □□□□□□ □□□□□ □□□□ □□□□□□ □□□□□□ □□□□ □□□□ □□□□□□□ □□□□□□□□□□□□□□□ □□□□□□□□.

□□□□□□ □□□□□—
□□□□□□ □□□□□□□ □□ □□□□□□□□□□□□
□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□ □□
□□□□□□□□ □□□□□□ □□□□ □□□□□□□□
□□□□□ □□□□□□□□□ □ □□□□□□□□□□□□**36□I**

36□ (*) □□□□□□ □□ □□□,—□□ □□□□□□□! □□□□ □□□□□-□□□□□□ □□ □□□□□ □□□□ □□□ □□□□□□□ □□□□□□ □□ □□□□ □□□□□ □□□□□□□ □□ □□□ □□□ □□□ □□□□□ □□ □□□□□□ □□□□ □□□□□ □□□□ □□□□□ □□ □□□ □□□ □□□—□□ □□ □□□□□□□ □□ □□□ □□ □□□□□ □□□ □□□ □□□□ □□□□□□□ □□□□ □□□□□□□ □□ □□□ □□□□

[*□□ □□□□□ □□□□□-□□□□□□□ □□□ □□□□□□-□□□□□□ □□□□□ □□ □□□ □□□ □□□□□□□□ □□]

□□□ (*) □□□□□□ □□□□□□□,—□□ □□□□□□□! □□□□□□ □□□□□□□ □□□□□□ □□□□ □□□□□□□ □□ □□□□□□ □□□□□□ □□□ □□□ □□□ □□□□□□□□□□ □□□□□□□ □□□ □□□. □□□□□□□□ □□□□□□ □□□□□ □□□□□ □□□□□□□ □□□ □□□□—□□ □□□□ □□□□□□ □□□. □□ □□□□□ □□□ □□□ □□□ □□□□ □□□□□□□ □□□□□□□□ □□□□□□□ □□□ □□□□.

[* □□ □□□□□ □□□□□□□□□□□□□□ □□□□□□-□□□□□□ □□□□□ □□□□□□ □□□□□□□□ □□□]

□□□□□□□□ □□ □ □□□□□□□□□□□□□□□
□□□□□□ □□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□□
□□□□□ □□□□□ □□□□□□□□□
□□□□□□□□□□ □□□□□□□□□□□ □□□□**37□**

37□ □□□□ □□ □□□□ □□□□□□□ □□□□ □ □□□□—□□□□□□□ □□ □□□□□□□□! □□ □□ □□□□□□□ □□ □□ □□□-□□□□ □□□ □□□□□ □□□□ □□□□□□□ □□□□□□□ □□□□ □□ □□□□□, □□ □□□□□, □□ □□□□□□□□□! □□

सत्-असत् (कार्य-कारण) के भी परे अक्षर-तत्त्व ब्रह्म है, वह आप ही हैं।
37। ते आपल्याला नमस्कार का नाही करणार? कारण आपण ब्रह्मदेवांचेही आदि-कारण आहात आणि त्यांच्यापेक्षाही श्रेष्ठ आहात. हे अनंत, हे देवेश, हे जगन्निवास! जे सत् आणि असत् (कार्य आणि कारण) यांच्याही पलीकडील श्रेष्ठ अक्षर-तत्त्व (अविनाशी) ब्रह्म आहे, ते आपणच आहात.
३७। शेवटी ते तुम्हाला नमस्कार कसे करणार नाहीत? कारण
हे महात्मन्! तुम्ही ब्रह्मदेवांचेही आदि-कारण आहात, म्हणून त्यांच्यापेक्षा श्रेष्ठ आहात. हे अनंत, हे देवेश, हे जगन्निवास! जे सत्-असत् (कार्य-कारण) यांच्याही पलीकडे असलेले अक्षर-तत्त्व ब्रह्म आहे, ते तुम्हीच आहात.

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥38॥

38। आप ही आदिदेव और सनातन पुरुष हैं—आप इस विश्व के परम आश्रय हैं। आप ज्ञाता (जानने वाले) और ज्ञेय (जानने योग्य) हैं। आप ‘परम-धाम’ (जीवों की श्रेष्ठ गति) हैं। हे अनन्तरूप! आपके द्वारा ही यह सारा जगत व्याप्त है।
३८। आपणच आदिदेव आणि सनातन पुरुष आहात—आपण या विश्वाचे परम आश्रय आहात. आपण ज्ञाता (जाणणारे) आणि ज्ञेय (जाणण्यास योग्य) आहात. आपणच ‘परमधाम’ (जीवांची श्रेष्ठ गती) आहात. हे अनंतरूप! आपल्या द्वारेच हे संपूर्ण जग व्यापलेले आहे.

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांक:
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥39॥
39। आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति ब्रह्मा
और उन ब्रह्मा के भी पिता हैं। अतः आपको नमस्कार, हज़ारों बार नमस्कार, पुनः नमस्कार, बारम्बार नमस्कार है।
३९। आपण वायू, यम, अग्नी, वरुण, चंद्र, प्रजापती ब्रह्मदेव आणि त्या ब्रह्मदेवांचेही पिता आहात. म्हणून आपणास नमस्कार—हजारो वेळा नमस्कार, पुन्हा नमस्कार, वारंवार नमस्कार आहे.

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व। अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥40॥
40। हे सर्व! आपको आगे से नमस्कार, पीछे से नमस्कार, सब
ओर से नमस्कार है। हे अनन्तवीर्य! आपका पराक्रम अनन्त है— आप ही समस्त जगत में व्याप्त होकर अवस्थित हैं, इसलिए आप ही ‘सर्व’ अर्थात् सब कुछ हैं।
४०। हे सर्व! आपणास पुढून नमस्कार, मागून नमस्कार, सर्व बाजूंनी नमस्कार आहे. हे अनंतवीर्य! आपला पराक्रम अनंत आहे — आपणच संपूर्ण जग व्यापून सर्वत्र अवस्थित आहात, म्हणून आपणच ‘सर्व’ म्हणजेच सर्वकाही आहात.

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं

हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥41॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥42॥

41-42। आपकी इस महिमा को न जानते हुए, भूल से या प्रेम
के वशीभूत होकर, आपको सखा मानकर, आपको ‘हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा’ इस प्रकार जो कुछ भी बिना सोचे-समझे कहा हो, और आपके साथ घूमने-फिरने, सोने-बैठने तथा भोजन आदि के समय अकेले अथवा बन्धुओं के समक्ष हास-परिहास में, आपका जो अनादर किया हो, हे अच्युत, उसके लिए मैं आपसे असंख्य बार क्षमा- प्रार्थना करता हूँ। आपके प्रभाव और स्वरूप को कोई पूरी तरह नहीं जान सकता।
४१–४२। आपल्या या महिमेचे ज्ञान नसल्यामुळे, चुकीने किंवा प्रेमाच्या वशीभूत होऊन, आपणास सखा मानून आपल्याला ‘हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा’ असे जे काही विचार न करता संबोधन केले असेल, आणि आपल्या सोबत फिरताना, बसताना, झोपताना, भोजन करताना, एकांतात किंवा बंधूजनांसमोर हास्य-परिहासात आपल्याप्रती जो अनादर प्रकट केला असेल—हे अच्युत! त्यासाठी मी आपल्यासमोर असंख्य वेळा क्षमेची प्रार्थना करतो. आपल्या प्रभाव आणि स्वरूपाला कोणीही पूर्णपणे जाणू शकत नाही.

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्। न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥43॥
43। हे अद्वितीय-प्रभावशाली! आप ही इस चराचर जगत् के पिता, पूज्यनीय एवं गुरुओं के गुरु हैं। इन तीनों लोकों में जब आपके समान दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे श्रेष्ठ तो कैसे हो सकता है?
४३। हे अद्वितीय-प्रभावशाली! आपणच या चराचर जगाचे पिता, पूजनीय आणि गुरूंचे गुरू आहात. या तीनही लोकांत आपल्या समान दुसरा कोणी नाही; मग आपल्यापेक्षा श्रेष्ठ तर कसा असू शकेल?

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥44॥
44। इसलिए हे प्रभु, भूमि पर लेटकर दण्डवत् प्रणाम

करता हुआ मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप प्रसन्न होवें। आप सब के वंदनीय परम ईश्वर हैं। हे देव! पिता जिस प्रकार पुत्र के, सखा जिस प्रकार सखा के, प्रिय जिस प्रकार प्रियतमा के अपराध को क्षमा कर देता है, आप भी मेरे अपराधों को उसी प्रकार क्षमा करने में समर्थ हैं।
४४। म्हणून हे प्रभू, भूमीवर दंडवत् प्रणाम करून मी आपल्याला प्रार्थना करतो की आपण प्रसन्न व्हावे. आपण सर्वांचे वंदनीय परमेश्वर आहात. हे देव! जसा पिता पुत्राचा अपराध क्षमा करतो, सखा सख्याचा अपराध क्षमा करतो, प्रियकर प्रियतमेचा अपराध क्षमा करतो—तसेच आपणही माझे अपराध क्षमा करण्यास समर्थ आहात.

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥45॥

45। हे देव! इसके पहले किसी ने भी आपका यह विश्वरूप नहीं देखा है, इसे देखकर मैं आनन्दित हो रहा हूँ, किन्तु साथ ही इसकी विकरालता को देखकर मेरा मन भय से अत्यंत व्याकुल भी हो रहा हूँ। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप मेरे प्रति प्रसन्न होवें। अब आप मुझे अपने उसी [सच्चिदानन्द चतुर्भुज] रूप का ही दर्शन कराइए।
४५। हे देव! यापूर्वी कुणीही आपले हे विश्वरूप पाहिलेले नाही. ते पाहून मी आनंदित झालो आहे, परंतु याची विकरालता (विक्राळता) पाहून माझे मन भयाने अत्यंत व्याकुळ झाले आहे. हे देवेश! हे जगन्निवास! आपण माझ्यावर प्रसन्न व्हावे. आता आपण मला आपल्या त्या [सच्चिदानंद चतुर्भुज] रूपाचे दर्शन द्यावे.

४५। हे देव! यापूर्वी कुणीही आपले हे विश्वरूप पाहिलेले नाही. ते पाहून मी आनंदित झालो आहे, परंतु या विक्राळ स्वरूपाच्या दर्शनाने माझे मन भयाने अत्यंत व्याकुळ झाले आहे. हे देवेश! हे जगन्निवास! आपण माझ्यावर प्रसन्न व्हावे. आता आपण मला आपल्या त्या [सच्चिदानंद चतुर्भुज] रूपाचे दर्शन द्यावे.

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥46॥
46। मैं आपको पहले की तरह मुकुट धारण किये तथा गदा और चक्र हाथ में लिए देखना चाहता हूँ। हे सहस्रबाहो! हे विश्वरूप! आप वही चतुर्भुज रूप ही धारण कीजिए।
४६। मी तुम्हाला पूर्वीप्रमाणे मुकुट धारण केलेले आणि हातात गदा व चक्र घेतलेले पाहू इच्छितो. हे सहस्रबाहो! हे विश्वरूप! आपण तेच चतुर्भुज रूप धारण करावे.

श्रीभगवानुवाच—
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥47॥

47। श्रीभगवान् ने कहा,—हे अर्जुन! तुम्हारे प्रति प्रसन्न होकर मैंने अपनी योगमाया के प्रभाव से तुम्हें अपने इस अनन्त तेजोमय विश्वव्यापी रूप का दर्शन कराया है। यह आदिभूत श्रेष्ठ विश्वरूप है—इसे तुम्हारे अलावा किसी दूसरे ने पहले कभी नहीं देखा है।
४७। श्रीभगवान म्हणाले,—हे अर्जुन! तुझ्यावर प्रसन्न होऊन मी माझ्या योगमायेच्या प्रभावाने तुला माझे हे अनंत तेजोमय, विश्वव्यापी रूप दाखवले आहे. हे आदिभूत श्रेष्ठ विश्वरूप आहे—हे तुझ्याशिवाय इतर कुणीही पूर्वी कधीही पाहिलेले नाही.
४७। श्रीभगवान म्हणाले,—हे अर्जुन! तुझ्यावर प्रसन्न होऊन मी माझ्या योगमायेच्या प्रभावाने तुला माझे हे अनंत तेजोमय, विश्वव्यापी रूप दाखवले आहे. हे आदिभूत श्रेष्ठ विश्वरूप आहे—हे तुझ्याशिवाय इतर कुणीही यापूर्वी पाहिलेले नाही.

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न
च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः। एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥48॥
48। हे कुरुश्रेष्ठ! इस जगत में मेरे इस विश्वरूप को न वेद, यज्ञ और अध्ययन से, न दान, पुण्यकर्म और उग्र तप आदि किसी साधन से ही कोई देख सकता है, जिसका तुमने दर्शन किया है।
४८। हे कुरुश्रेष्ठ! माझ्या ज्या विश्वरूपाचे तू दर्शन केले आहेस. ते या जगात वेद, यज्ञ, अध्ययन, दान, पुण्यकर्म आणि उग्र तप अशा कोणत्याही साधनांनी कोणालाही पाहता येण्याजोगे नाही.

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥49॥
49। मेरे इस भयंकर रूप को देखकर तुम्हें भयभीत या मोहित नहीं होना चाहिए। तुम निर्भय होकर तथा प्रसन्न चित्त से अपना इच्छित मेरे उसी चतुर्भुज-रूप का दर्शन करो।

४९। माझे हे भयंकर रूप पाहून तू भयभीत किंवा मोहित होऊ नये. तू निर्भय हो आणि प्रसन्न चित्ताने तुझ्याद्वारे इच्छित माझ्या त्या चतुर्भुज रूपाचे दर्शन कर.
४९। माझे हे भयंकर रूप पाहून तू भयभीत किंवा मोहित होऊ नकोस. तू निर्भय राहा आणि प्रसन्न चित्ताने तुला इच्छित माझ्या त्या चतुर्भुज रूपाचे दर्शन कर.

सञ्जय उवाच—
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥50॥
50। संजय ने कहा—हे राजन, इस प्रकार कहकर परम कारुणिक श्रीवासुदेव ने अर्जुन को अपना वही पहले का चतुर्भुज रूप फिर दिखाया। और तब उन्होंने अपना द्विभुज शान्त सुन्दर रूप दिखाकर डरे हुए अर्जुन को धीरज बँधाया।
५०। संजय म्हणाला—हे राजन्! अशा प्रकारे सांगून परमकारुणिक श्रीवासुदेवांनी अर्जुनाला आपले ते पूर्वीचे चतुर्भुज रूप पुन्हा दाखविले. आणि नंतर त्यांनी आपले द्विभुज शांत व सुंदर रूप प्रकट करून भयभीत झालेल्या अर्जुनाला धीर दिला.

अर्जुन उवाच—
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन। इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥51॥
51। अर्जुन ने कहा, हे जनार्द्दन! आपके इस सौम्य नराकार रूप का दर्शन करके मैं अब प्रसन्न हो गया हूँ तथा अपनी पूर्व (सामान्य) स्थिति में आ गया हूँ।
५१। अर्जुन म्हणाला—हे जनार्दन! आपल्या या सौम्य (शांत) नराकार रूपाचे दर्शन करून मी आता प्रसन्न झालो आहे आणि माझ्या पूर्वीच्या (सामान्य) स्थितीत परत आलो आहे.
५१। अर्जुन म्हणाला—हे जनार्दन! आपल्या या सौम्य (शांत) नराकार रूपाचे दर्शन करून मी आता प्रसन्न झालो आहे आणि माझ्या पूर्वीच्या (सामान्य) स्थितीत परतलो आहे.

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः॥52॥
52। श्रीभगवान् ने कहा, तुम मेरा जो यह नर-आकार रूप देख रहे हो, उसका दर्शन बहुत दुर्लभ हैं। देवता भी सदा मेरे इस रूप का दर्शन पाने के लिए लालायित रहते हैं।
५२। श्रीभगवान म्हणाले—तू माझे हे नर-आकार (मनुष्य-आकारातील) रूप पाहत आहेस, त्याचे दर्शन अत्यंत दुर्मिळ आहे. देवताही नेहमी माझ्या या रूपाचे दर्शन मिळावे म्हणून लालायित असतात.

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि यन्मम॥53॥
53। मेरे जिस रूप का तुम दर्शन कर रहे हो, इसका वेद पाठ से, तपस्या से, दान से और यज्ञ आदि के द्वारा भी नहीं दर्शन किया जा सकता है।
५३। माझ्या ज्या रूपाचे तू दर्शन घेत आहेस, त्याचे वेदपठणाने, तपश्चर्येने, दानाने किंवा यज्ञ-यागादिकांच्या द्वारेही दर्शन होऊ शकत नाही.
५३। माझ्या ज्या रूपाचे तू दर्शन करीत आहेस, त्याचे दर्शन वेदपाठाने, तपश्चर्येने, दानाने किंवा यज्ञादिकांनीही होऊ शकत नाही.

भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप॥54॥
54। किन्तु हे परन्तप अर्जुन! मुझ नराकृति परब्रह्म को एकमात्र अनन्य भक्ति के द्वारा ही तत्त्व से जाना, देखा और आश्रय किया जा सकता है [अन्य किसी उपाय से नहीं]।
५४। पण हे परंतप अर्जुन! मज नराकृती परब्रह्माला केवळ अनन्य भक्तीनेच तत्त्वतः जाणता येते, पाहता येते आणि माझा आश्रय घेता येतो [इतर कोणत्याही उपायाने नाही].
५४। पण हे परंतप अर्जुन! मला अर्थात नराकृती परब्रह्माला केवळ अनन्य भक्तीनेच तत्त्वतः जाणता येते, पाहता येते आणि याचा आश्रय घेता येतो [इतर कोणत्याही उपायाने नाही].

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥55॥
इति ‘विश्वरूपदर्शनयोगो’ नाम एकादशोऽध्यायः॥
55। हे पाण्डव! जो केवल मेरे लिए ही सेवा रूप कर्म करता है, मेरे में मन लगाए रहता है, मेरा (श्रवण-कीर्त्तन आदि नवविध भक्ति करने वाला) भक्त है, मेरे अलावा अन्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष में आसक्ति रहित है और सब प्राणियों के प्रति शत्रु भाव रहित है, वह मुझे प्राप्त करता है।
५५। हे पांडव! जो केवळ माझ्यासाठीच सेवा-रूप कर्म करतो, माझ्यात मन लावून राहतो, माझी (श्रवण-कीर्तन इत्यादी नवविध भक्ती करणारा) भक्त आहे, माझ्याशिवाय धर्म, अर्थ, काम किंवा मोक्ष यांत आसक्त नसतो आणि सर्व प्राणिमात्रांप्रति शत्रुभावहीन असतो—तो मला प्राप्त करतो.
५५। हे पांडव! जो केवळ माझ्यासाठीच सेवा-रूप कर्म करतो, माझ्यात मन लावून राहतो, माझी (श्रवण-कीर्तन इत्यादी नवविध भक्ती करणारा) भक्त आहे, माझ्याशिवाय धर्म, अर्थ, काम किंवा मोक्ष यांत आसक्त नसतो आणि सर्व प्राणिमात्रांप्रति शत्रुभावहीन असतो—तो मला प्राप्त करतो.
५५। हे पांडव! जो केवळ माझ्यासाठीच सेवा-रूप कर्म करतो, माझ्यात मन लावून राहतो, माझी (श्रवण-कीर्तन इत्यादी नवविधा भक्ती करणारा) भक्त आहे, माझ्याशिवाय धर्म, अर्थ, काम किंवा मोक्ष यांत आसक्त नसतो आणि सर्व प्राणिमात्रांबद्दल शत्रुभाव रहित असतो—तो मला प्राप्त करतो.

इति एकादश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
इति एकादश (अकराव्या) अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.

द्वादशोऽध्यायः
भक्तियोगः
अर्जुन उवाच—
एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥1॥
1। अर्जुन ने कहा—[हे श्रीकृष्ण!] आपके उपदेश अनुसार
जो सब भक्त इस प्रकार अनन्य भक्ति के द्वारा आपके श्मामसुन्दर रूप की उपासना करते हैं, तथा दूसरे जो अव्यक्त (निर्विशेष), अक्षर ब्रह्म की उपासना करते हैं, उन दोनों प्रकार के योगियों में श्रेष्ठ योगी कौन है?।
१। अर्जुन म्हणाला—[हे श्रीकृष्ण!] आपल्या उपदेशानुसार जे सर्व भक्त अनन्य भक्तीने आपल्या श्यामसुंदर रूपाची उपासना करतात, आणि दुसरे जे अव्यक्त— निर्विशेष—अक्षर ब्रह्माची उपासना करतात, त्या दोन्ही योग्यांमध्ये श्रेष्ठ योगी कोण आहे?
१। अर्जुन म्हणाला—[हे श्रीकृष्ण!] आपल्या उपदेशानुसार जे सर्व भक्त अशा प्रकारे अनन्य भक्तीने आपल्या श्यामसुंदर रूपाची उपासना करतात, आणि दुसरे जे अव्यक्त—निर्विशेष—अक्षर ब्रह्माची उपासना करतात, त्या दोन्ही प्रकारच्या योगी पुरुषांमध्ये श्रेष्ठ योगी कोण आहे?

श्रीभगवानुवाच—
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥2॥

2। श्रीभगवान् ने कहा,—जो लोग मेरे सच्चिदानन्द-विग्रह में चित्त लगाकर पूरी श्रद्धा के साथ (अर्थात् अनन्य-भक्ति का सहारा लेकर) मेरे साथ नित्य-युक्त होने की इच्छा से मेरी उपासना करते हैं, वे भक्त मेरे विचार में उत्तम योगी हैं।
२। श्रीभगवान म्हणाले—जे लोक माझ्या सच्चिदानंद विग्रहात चित्त लावून, पूर्ण श्रद्धेने (म्हणजे अनन्य भक्तीचा आश्रय घेऊन) माझ्याशी नित्य-युक्त होण्याची इच्छा ठेवून माझी उपासना करतात—ते भक्त माझ्या मते उत्तम योगी आहेत.

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥3॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥4॥

3-4। किन्तु जो लोग ज्ञानयोग के द्वारा सभी इन्द्रियों
को पूरी तरह संयमित करके एवं सब प्राणियों के प्रति समबुद्धि रखते हुए उनके हित में लगे रहते हैं और मेरे अवर्णनीय, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ (सर्वकालव्यापी), अचल, ध्रुव (नित्य), निर्विशेष अक्षर ब्रह्म स्वरूप की उपासना करते हैं, वे वास्तव में मुझे (अर्थात् मेरी ही अंगकान्ति परम ज्योति को) प्राप्त होते हैं।
३-४। परंतु जे लोक ज्ञानयोगाद्वारे सर्व इंद्रियांना पूर्णपणे संयमित करून आणि सर्व प्राण्यांप्रति समबुद्धी ठेवून त्यांच्या हितासाठी तत्पर असतात, आणि माझ्या अवर्णनीय, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिंत्य, कूटस्थ (सर्वकालव्यापी), अचल, ध्रुव (नित्य), निर्विशेष अक्षरब्रह्म स्वरूपाची उपासना करतात, ते खरोखर मलाच (म्हणजेच माझ्याच अंगकांतीरूप परमज्योतीला) प्राप्त होतात.

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥5॥
5। किन्तु उन निर्विशेष ब्रह्म में आसक्त चित्त वाले व्यक्तियों को साधना में अधिक परिश्रम करना पड़ता है। क्योंकि देहाभिमानियों के द्वारा निर्विशेष- तत्त्व विषयक निष्ठा कठिनता से प्राप्त होती है।
५। परंतु त्या निर्विशेष ब्रह्मामध्ये ज्यांचे चित्त आसक्त झालेले आहे अशा व्यक्तींना साधनेत अधिक परिश्रम करावे लागतातच. कारण देहाभिमानी (पंचभौतिक देहालाच ‘आत्मा’ मानणाऱ्या) व्यक्तींना निर्विशेष-तत्त्वाविषयी निष्ठा प्राप्त करणे अतिशय कठीण असते.

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥6॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥7॥
6-7। किन्तु जो लोग सब लौकिक-वैदिक कर्मों को मेरे अर्पण करके केवल मेरे में ही मन लगाकर अनन्य भक्तियोग से सब समय मुझ श्यामसुन्दर का ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते

हैं, हे पार्थ! मेरे में ही चित्त लगाने वाले उन भक्तों को मैं अतिशीघ्र ही मृत्युमय संसार-सागर से पार कर देता हूँ। ६–७। परंतु जे लोक सर्व लौकिक-वैदिक कर्मे मला अर्पण करून, केवळ माझ्यामध्येच मन लावून अनन्य भक्तियोगाने सर्वकाळ मज श्यामसुंदराचे ध्यान करीत माझी उपासना करतात, हे पार्थ! माझ्यामध्येच चित्त लावणाऱ्या त्या भक्तांना मी अतिशीघ्र मृत्युमय संसारसागरातून पार करतो.
६-७। परंतु जे लोक सर्व लौकिक-वैदिक कर्मे मला अर्पण करून केवळ माझ्यामध्येच मन लावून अनन्य भक्तियोगाने सर्व काळ माझ्या श्यामसुंदर रूपाचे ध्यान करीत माझी उपासना करतात, हे पार्थ! माझ्यामध्येच चित्त लावणाऱ्या त्या भक्तांना मी अतिशीघ्र मृत्युमय संसारसागरातून पार करतो.

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥8॥

8। [इसलिए] हे अर्जुन, मेरे इस श्यामसुन्दर स्वरूप में
ही मन को लगाओ, मेरे में ही बुद्धि को स्थिर करो। ऐसा होने से देहान्त के बाद तुम मेरे निकट ही निवास कर पाओगे, इसमें कोई संशय नहीं है।
८। [म्हणून] हे अर्जुन, माझ्या या श्यामसुंदर स्वरूपातच मन लाव, माझ्यामध्येच बुद्धी स्थिर कर. असे झाल्यास देहांतानंतर (मृत्यूनंतर) तू माझ्या जवळच निवास करू शकशील, यात कोणताही संशय नाही.

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥9॥
9। हे धनञ्जय! और यदि तुम चित्त को [सहज अनुराग के अभाव में] स्थिर भाव से मुझमें नहीं लगा सकते हो, तो फिर नियमपूर्वक अभ्यास-योग (अर्थात् प्राकृत रूप-रस आदि से चित्त को बार-बार पीछे खींचकर मेरे नाम-रूप-गुण आदि में ही स्थापन करने की निरंतर चेष्टा) के द्वारा मुझे प्राप्त करने का प्रयास करो।
९। हे धनंजय! आणि जर तू आपले चित्त [माझ्याप्रति सहज अनुराग नसल्यामुळे] स्थिर भावनेने मला अर्पण करू शकत नसलास, तर मग नियमपूर्वक अभ्यास-योगाचे अनुष्ठान करून— म्हणजेच प्राकृत रूप, रस इत्यादींपासून तुझे चित्त वारंवार मागे खेचून माझ्या नाम, रूप, गुण इत्यादींमध्येच स्थापन करण्याच्या निरंतर प्रयत्नाद्वारे मला प्राप्त करण्याचा खटाटोप कर.

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥10॥
10। यदि तुम ऐसा अभ्यास-योग भी नहीं कर सकते हो तो सब कर्मों को मेरे अर्पण कर दो अर्थात् मेरे सेवा-परायण हो जाओ। इस प्रकार मेरे लिए सभी कर्म (जैसे—मेरी कथा का श्रवण-कीर्तन करना, मेरी पूजा-अर्चन करना, मेरी वन्दना करना, मेरे मंदिर की सफाई करना, मेरे लिए पुष्प चयन करना, मेरे लिए बगीचा बनाना, मेरे लिए रसोई बनाना आदि सेवा कार्य) करके भी तुम सिद्धि प्राप्त कर सकते हो।
१०। जर तू या अभ्यास-योगाचे अनुष्ठान करू शकत नसशील तर सर्व कर्मे मला अर्पण कर—म्हणजेच माझ्या सेवेत स्वतःला

समर्पित कर. अशा प्रकारे माझ्यासाठी सर्व कर्मे—जसे माझ्या कथेचे श्रवण-कीर्तन करणे, माझी पूजा-अर्चना करणे, मला वंदन (प्रार्थना) करणे, माझ्या मंदिराची साफसफाई करणे, माझ्यासाठी फुले वेचणे, माझ्यासाठी बाग तयार करणे, माझ्यासाठी स्वयंपाक करणे इत्यादी सेवा कार्ये करूनही तू सिद्धी प्राप्त करशील.
१०। जर तू या अभ्यास-योगाचे अनुष्ठान करू शकत नसशील तर सर्व कर्मे मला अर्पण कर—म्हणजेच माझ्या सेवेतच स्वतःला झोकून टाक. अशा प्रकारे माझ्यासाठी सर्व कर्मे—जसे माझ्या कथेचे श्रवण-कीर्तन करणे, माझी पूजा-अर्चना करणे, मला वंदन (प्रार्थना) करणे, माझ्या मंदिराची साफसफाई करणे, माझ्यासाठी फुले वेचणे, माझ्यासाठी फुलाफळांची बाग बनवणे, माझ्यासाठी स्वयंपाक करणे इत्यादी सेवा कार्ये करूनही तू सिद्धी प्राप्त करू शकतोस.

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः। सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥11॥

11। और यदि तुम यह भी नहीं कर सकते हो, तो फिर अपने समस्त कर्मों को मुझमें समर्पण करने रूपी जो ‘योग’ है, उसका आश्रय करते हुए, मन को संयमित करके सब कर्मों के फल का त्याग कर दो।
११। आणि जर तू हे सुद्धा करू शकत नसशील, तर मग ‘आपली सर्व कर्मे मला समर्पण करणे’ या ‘योग’ पद्धतीचा आश्रय घेऊन, मनावर संयम ठेवून सर्व कर्मांच्या फळाचा त्याग कर.

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्वयानं विशिष्यते। ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥12॥
12। [संक्षेप में मुझे प्राप्त करने का जो क्रम है उस मार्ग के विषय में केवल यही कह रहा हूँ कि,] वैधी भक्ति-रूप अभ्यास योग यदि कोई न कर सकता हो तो उसके लिए अभ्यास की अपेक्षा आत्म-साक्षात्कार विषयक ज्ञान-चेष्टा श्रेष्ठ है; उसमें असमर्थ होने पर तो उस ज्ञान की अपेक्षा आत्मचिंता- रूप ध्यान ही श्रेष्ठ है; उस ध्यान में भी असमर्थ होने पर उसकी अपेक्षा कर्मफल-त्याग (निष्काम कर्मयोग) ही श्रेष्ठ है। सकाम कर्मियों को कर्मफल त्यागने के बाद ही शान्ति प्राप्त होती है।
१२। [मला प्राप्त करण्याचा जो क्रम आहे, त्या मार्गाविषयी थोडक्यात केवळ हेच सांगत आहे की,] वैधी भक्तिरूप अभ्यास-योगाचे पालन जर कोणी करू शकत नसेल तर त्याच्यासाठी अभ्यासापेक्षा आत्म-साक्षात्कार विषयक ज्ञानाची कृती श्रेष्ठ आहे; त्यात असमर्थ असल्यास त्या ज्ञानापेक्षा आत्मचिंतन-रूप ध्यानच श्रेष्ठ आहे; तसे ध्यान करण्यासही साधक असमर्थ असल्यास त्याच्यापेक्षा कर्मफल-त्यागच (निष्काम कर्मयोगच) श्रेष्ठ आहे. सकाम कर्मींना (फळाची किंवा मोबदल्याची आशा बाळगून कर्म करणाऱ्यांना) कर्मफलाचा त्याग केल्यावरच शांती प्राप्त होते.

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥13॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥14॥
13-14। [अब सुनो मेरे भक्तों की गुणावली, जिस कारण से

वे मेरे अत्यन्त प्रिय होते हैं,] जो किसी जीव के प्रति द्वेष भाव न रखता हुआ सबके साथ मित्र भाव रखता है तथा ‘सभी का मंगल हो’ इस प्रकार दया भाव युक्त है, और दूसरी ओर जिसकी पुत्र-कलत्र आदि में ममता नहीं है, निरहंकार (अर्थात् ‘मैं- मेरा’ बुद्धि रहित) है, सुख-दुःख में एक जैसा रहता है, क्षमाशील है, सदा संतुष्ट है, साधन-भजन में निष्ठावान् है, इन्द्रियों को वश में रखा हुआ है, अनन्य-भक्ति में दृढ़- निश्चयी है और जिसने अपने मन और बुद्धि को मेरे अर्पण कर दिया है—ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।
१३-१४। [आता ऐक माझ्या भक्तांची गुणवैशिष्ट्ये, ज्यामुळे ते मला अत्यंत प्रिय असतात,] जो कोणत्याही जीवाबद्दल द्वेषभाव न ठेवता सर्वांशी मित्रभाव ठेवतो आणि ‘सर्वांचे कल्याण होवो’ अशा दयाभावाने युक्त असतो, आणि दुसरीकडे ज्याची पुत्र, पत्नी इत्यादींमध्ये ममता नाही, जो निरहंकारी—म्हणजेच ‘मी-माझे’ ही बुद्धी नसलेला—आहे, सुख-दुःखात सारखा राहतो, क्षमाशील आहे, सदैव संतुष्ट आहे, साधन-भजनात निष्ठावान आहे, इंद्रियांना वश केलेला आहे, अनन्य-भक्तीत दृढ-निश्चयी आहे आणि ज्याने आपले मन व बुद्धी मला अर्पण केली आहेत—असा माझा भक्त मला प्रिय आहे.
१३–१४। [आता माझ्या भक्तांचे गुण ऐक, ज्यामुळे ते मला अत्यंत प्रिय होतात.] जो कोणत्याही जीवाविषयी द्वेषभाव ठेवत नाही, सर्वांशी मैत्रीभाव ठेवतो, “सर्वांचे मंगल होवो” असा दयाभाव बाळगतो; ज्याला पुत्र-कलत्र इत्यादींमध्ये (मुले-पत्नी वगैरेंमध्ये) ममता नाही, जो निरहंकारी आहे (म्हणजे ‘मी-माझे’ बुद्धीपासून मुक्त आहे), सुख-दुःखात समान राहतो, क्षमाशील आहे, नेहमी संतुष्ट असतो, साधन-भजनात निष्ठावान आहे, इंद्रियांना वश केलेले आहे, अनन्य भक्तीत दृढनिश्चयी आहे आणि ज्याने आपले मन व बुद्धी माझ्या अर्पण केले आहेत—असा माझा भक्त मला प्रिय आहे.

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥15॥
15। जिसके द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट प्राप्त नहीं होता तथा जो स्वयं भी किसी प्राणी से उद्वेग को प्राप्त नहीं होते, अतः जड़ीय हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग से जो दूर है, वह मेरा प्रिय है।

१५। ज्याच्यामुळे कोणत्याही प्राण्याला कष्ट होत नाहीत आणि जो स्वतःही कोणत्याही प्राण्यामुळे उद्वेग पावत नाही, म्हणून जो जड (भौतिक) हर्ष, क्रोध, भय आणि उद्वेग यांपासून दूर आहे, तो मला प्रिय आहे.

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः। सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥16॥
16। जो व्यवहारिक कार्यों में दूसरे से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं करता, पवित्र है, दक्ष (शास्त्रों का अर्थ निर्णय करने में निपुण) है, उदासीन (पक्षपात-शून्य) रहता है, उद्वेग-रहित और किसी भी भक्ति-प्रतिकूल विषय के लिए चेष्टा नहीं करता—वह मेरा भक्त है और मुझे अतिशय प्रिय है।
१६। जो व्यावहारिक कार्यांमध्ये दुसऱ्याकडून कोणत्याही प्रकारची अपेक्षा ठेवत नाही, जो पवित्र आहे, दक्ष (शास्त्रांचा अर्थ निश्चित करण्यात निपुण) आहे, उदासीन म्हणजेच पक्षपातशून्य राहतो, उद्वेगरहित आहे आणि भक्तीला प्रतिकूल अशा कोणत्याही विषयासाठी प्रयत्न करीत नाही—तो माझा भक्त आहे आणि मला अतिशय प्रिय आहे.
१६. जो व्यावहारिक कार्यांमध्ये दुसऱ्याकडून कोणत्याही प्रकारची अपेक्षा ठेवत नाही, पवित्र आहे, दक्ष (शास्त्रांचा अर्थ ठरवण्यात निपुण) आहे, उदासीन (पक्षपात-शून्य) राहतो, उद्वेगरहित असतो आणि भक्तीला प्रतिकूल अशा कोणत्याही विषयासाठी प्रयत्न करत नाही—तो माझा भक्त आहे आणि मला अत्यंत प्रिय आहे.

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति। शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥17॥
17। जो किसी लौकिक लाभ-पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा नहीं करता, न उनकी प्राप्ति होने पर आनन्दित होता है, और न प्राप्ति में बाधा आने पर द्वेष करता है, प्रिय वस्तु के नष्ट होने पर न शोक करता है तथा सब प्रकार के शुभ-अशुभ [कर्मफल] त्याग चुका है, वह भक्त ही मुझे अत्यन्त प्रिय है।
१७। जो कोणत्याही लौकिक लाभ, पूजा, प्रतिष्ठेची इच्छा करीत नाही, त्यांची प्राप्ती झाल्यावर आनंदित होत नाही, प्राप्तीत अडथळा आल्यास द्वेष करीत नाही, प्रिय वस्तू नष्ट झाल्यावर शोक करीत नाही तसेच सर्व प्रकारच्या शुभ-अशुभ

कर्मफळांचा त्याग केला आहे—तो भक्तच मला अत्यंत प्रिय आहे.
१७। जो कोणत्याही लौकिक लाभ, पूजा, प्रतिष्ठेची इच्छा करीत नाही, त्यांची प्राप्ती झाल्यावर आनंदित होत नाही, आणि प्राप्तीत अडथळा आल्यास द्वेष करीत नाही, प्रिय वस्तू नष्ट झाल्यावर शोक करीत नाही तसेच सर्व प्रकारच्या शुभ-अशुभ कर्मफळांचा त्याग केलेला आहे, तो भक्तच मला अत्यंत प्रिय आहे.

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥18॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मोनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥19॥
18-19। जो शत्रु और मित्र में तथा मान और अपमान में एक-
सा भाव रखता है, सर्दी और गर्मी में तथा सुख-दुःख में एक जैसा रहता है, सब प्रकार के दुःसंग से मुक्त है, जो निन्दा और स्तुति को एक समान मानता है, जो भगवान् की चर्चा के अलावा अन्य विषयों में मौन रहता है, जो कुछ भी मिल जाय उसी में संतुष्ट रहता है, जो अनिकेत है (अर्थात् महल में वास या पेड़ के नीचे वास दोनों ही जिसके लिए एक समान है) एवं भगवान् के चरणों में जिसकी बुद्धि सर्वदा स्थिर है, वह भक्त मुझे प्रिय है।
१८–१९। जो शत्रू आणि मित्रामध्ये तसेच मान आणि अपमानामध्ये एकसारखा भाव ठेवतो, थंडी आणि उन्हाळ्यात तसेच सुख-दुःखात समान राहतो, सर्व प्रकारच्या दुःसंगापासून मुक्त आहे, निंदा आणि स्तुतीला समान मानतो, भगवंताच्या चर्चेव्यतिरिक्त इतर विषयांत मौन बाळगतो, जे काही मिळेल त्यातच संतुष्ट राहतो, जो अनिकेत आहे—म्हणजेच महालात वा झाडाखाली राहणे दोन्ही ज्याला सारखेच आहे—आणि भगवंतांच्या चरणी ज्याची बुद्धी सदैव स्थिर आहे, तो भक्त मला अत्यंत प्रिय आहे.
१८-१९। जो शत्रू आणि मित्रामध्ये तसेच मान आणि अपमानामध्ये एकसारखा भाव ठेवतो, थंडी आणि उन्हाळ्यात तसेच सुख-दुःखात सारखा राहतो, सर्व प्रकारच्या दुःसंगापासून मुक्त आहे, जो निंदा आणि स्तुतीला समान मानतो, जो भगवंताच्या चर्चेव्यतिरिक्त इतर विषयांत मौन बाळगतो, जे

काही मिळेल त्यातच संतुष्ट राहतो, जो अनिकेत आहे—म्हणजेच महालात राहणे किंवा झाडाखाली राहणे दोन्ही ज्याला सारखेच आहे—आणि भगवंतांच्या चरणी ज्याची बुद्धी सदैव स्थिर आहे, तो भक्त मला प्रिय आहे.

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥20॥
इति ‘भक्तियोगो’ नाम द्वादशोऽध्यायः॥
20। और जो भक्त मेरे परायण होकर मेरे द्वारा ऊपर कहे हुए अमृततुल्य धर्म का श्रद्धा सहित यथायथ आचरण करता है, वह मुझे अत्यधिक प्रिय है।
२०। आणि जो भक्त माझ्या परायण होऊन माझ्याद्वारे वर सांगितलेल्या अमृततुल्य धर्माचे श्रद्धापूर्वक योग्य रीतीने आचरण करतो, तो मला अत्यंत प्रिय आहे.
२०। आणि जो भक्त माझ्या परायण होऊन माझ्याद्वारे वर सांगितलेल्या अमृततुल्य धर्माचे श्रद्धापूर्वक यथायोग्य आचरण करतो, तो मला अत्यंत प्रिय आहे.
इति द्वादश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
इति द्वादश (बाराव्या) अध्यायाचे मराठी भाषांतर समाप्त.

त्रयोदशोऽध्यायः
प्रकृति-पुरुष-विवेकयोगः अर्जुन उवाच—
प्रकृतिं पुरुषञ्चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च। एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयञ्च केशव॥1॥
1। अर्जुन ने कहा, हे केशव! मैं प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ज्ञान-ज्ञेय—इनके विषय में जानना चाहता हूँ।
१। अर्जुन म्हणाला—हे केशव! मला प्रकृती-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ आणि ज्ञान-ज्ञेय यांविषयी जाणून घ्यायचे आहे.

श्रीभगवानुवाच—
इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥2॥
2। श्रीभगवान् ने कहा, हे कौन्तेय! इस शरीर को ‘क्षेत्र’ कहा जाता है (अर्थात् शरीर ‘आत्मा’ नहीं, आत्मा का कार्य-साधक एक क्षेत्र-विशेष है), जो इसे जानता है, उसे ज्ञानी लोग ‘क्षेत्रज्ञ’ कहते हैं।
२. श्रीभगवान म्हणाले, हे कौन्तेय! या शरीराला ‘क्षेत्र’ असे म्हटले जाते (अर्थात शरीर ‘आत्मा’ नाही, आत्म्याचे कार्य साधणारे एक क्षेत्र-विशेष आहे), जो याला जाणतो, त्याला ज्ञानी लोक ‘क्षेत्रज्ञ’ म्हणतात.
२. श्रीभगवान म्हणाले—हे कौन्तेय, या शरीराला ‘क्षेत्र’ असे म्हणतात (म्हणजे शरीर हे ‘आत्मा’ नसून आत्म्याचे कार्य साधणारे एक विशेष क्षेत्र आहे). आणि जो हे तथ्य जाणतो, त्याला ज्ञानी लोक ‘क्षेत्रज्ञ’ असे म्हणतात.

क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥3॥
3। [और फिर] हे भारत! चिद् अचिद् सब क्षेत्रों (शरीरों) में [मूल] ‘क्षेत्रज्ञ’ भी मुझे ही जानना। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के तत्त्व का जो ज्ञान है, उसे ही मैं ‘ज्ञान’ मानता हूँ।
३. [आणि मग] हे भारत! चित्-अचित् सर्व क्षेत्रांमध्ये (शरीरांमध्ये) [मूळ] ‘क्षेत्रज्ञ’ सुद्धा मलाच जाण. क्षेत्र आणि क्षेत्रज्ञ यांच्या तत्त्वाचे जे ज्ञान आहे, त्यालाच

मी ‘ज्ञान’ मानतो.
३. आणि हे भारत, सर्व चित्-अचित् क्षेत्रांमध्ये (शरीरांमध्ये) जो मूळ ‘क्षेत्रज्ञ’ आहे, तोही मीच आहे—असे तू जाण. क्षेत्र आणि क्षेत्रज्ञ यांच्या तत्त्वाचे जे ज्ञान आहे, त्यालाच मी ‘ज्ञान’ मानतो.

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥4॥
4। वह क्षेत्र क्या है, कैसा है, किन विकारों वाला है, किन कारणों से व किससे उत्पन्न हुआ है, तथा उस क्षेत्रज्ञ का स्वरूप क्या है, उसका प्रभाव कैसा है—वह सब तुम मुझसे संक्षेप में श्रवण करो।
4। ते क्षेत्र काय आहे, कसे आहे, कोणत्या विकारांनी युक्त आहे, कोणत्या कारणांमुळे व कोणापासून उत्पन्न झाले आहे, तसेच त्या क्षेत्रज्ञाचे स्वरूप काय आहे, त्याचा प्रभाव कसा आहे—ते सर्व तू माझ्याकडून संक्षेपात ऐक.

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥5॥
5। यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व पराशर आदि ऋषियों ने स्मृति शास्त्र में अलग-अलग प्रकार से वर्णित किया है। फिर अलग तरह से विभिन्न वेदों के अन्तर्गत उपनिषदों में और ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र) में भी युक्तिपूर्ण सिद्धान्त वाक्यों द्वारा निश्चित किया गया है।
5। हे क्षेत्र आणि क्षेत्रज्ञाचे तत्त्व पराशर इत्यादी ऋषींनी स्मृतिशास्त्रात वेगवेगळ्या प्रकारे वर्णन केले आहे. पुन्हा वेगळ्या प्रकारे विविध वेदांच्या अंतर्गत उपनिषदांमध्ये आणि ब्रह्मसूत्रात (वेदान्तसूत्रात) देखील युक्तिपूर्ण सिद्धान्तवाक्यांद्वारे निश्चित केले गेले आहे.

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥6॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥7॥

6–7। पाँच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी), अहंकार, बुद्धि, त्रिगुणमय प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) [ये चौबीस प्राकृत-तत्त्व ही ‘क्षेत्र’ हैं]; इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (पँच-महाभूत का परिणाम रूपी स्थूल शरीर), चेतना (ज्ञानात्मक लिंगदेह) और धैर्य [ये सभी क्षेत्र के विकार हैं]—इस प्रकार संक्षेप में इन विकारों के साथ क्षेत्र का परिचय कहा गया है।
६–७। पाच महाभूते (आकाश, वायू, अग्नी, जल, पृथ्वी), अहंकार, बुद्धी, त्रिगुणमय प्रकृती, दहा इंद्रिये, एक मन आणि पाच इंद्रियांचे विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस आणि गंध) [ही चोवीस प्राकृत-तत्त्वेच ‘क्षेत्र’ आहेत]; इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (पंच-महाभूतांचा परिणामरूपी स्थूल देह), चेतना (ज्ञानात्मक लिंगदेह) आणि धैर्य [हे सर्व क्षेत्राचे विकार आहेत]—अशा प्रकारे संक्षेपाने या विकारांसह क्षेत्राचा परिचय सांगितला आहे.
६–७. पाच महाभूते—आकाश, वायू, अग्नी, जल आणि पृथ्वी; अहंकार; बुद्धी; त्रिगुणमय प्रकृती; दहा इंद्रिये; एक मन आणि पाच इंद्रियांचे विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस आणि गंध— हे चौवीस प्राकृत तत्त्व म्हणजे ‘क्षेत्र’ होत. इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (पंचमहाभूतांच्या परिणामरूप स्थूल शरीर), चेतना (ज्ञानात्मक लिंगदेह) आणि धैर्य—हे सर्व क्षेत्राचे विकार आहेत. अशा प्रकारे संक्षेपाने या विकारांसह क्षेत्राचा परिचय सांगितला आहे.

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥8॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥9॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥10॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥11॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥12॥
8-12। [अब जिस ज्ञान को पाकर क्षेत्र से भिन्न

क्षेत्रज्ञ-तत्त्व को जाना जायेगा, वह सुनो,] अमानित्व (अपने मान-सम्मान की इच्छा न करना), दंभहीनता, अहिंसा, क्षमा (सहिष्णुता), सरलता, गुरु-सेवा, पवित्रता, स्थिरता, मन एवं इन्द्रियों का संयम, इन्द्रियों के विषयों में विरक्ति, अहंकार का अभाव, जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा-रोग आदि का बार-बार दुःख और दोष के रूप में चिन्तन करना, स्त्री-पुत्र घर आदि में ममता न होना, दूसरे के सुख-दुःख में आवेश का अभाव, इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में सदा समभाव, अनन्य निष्ठा के साथ मुझमें अचंचला भक्ति, निर्जन स्थान प्रिय लगना, बहिर्मुख लोगों के समुदाय वाले स्थान से अलगाव, सदा आत्म-विषयक ज्ञान की चर्चा, तत्त्वज्ञान के प्रयोजन का अनुसंधान—इन सबको ‘ज्ञान’ कहा गया है। जो कुछ भी इसके विपरीत है, वह अज्ञान कहलाता है।
८–१२. [आता जे ज्ञान प्राप्त झाल्यावर क्षेत्राहून वेगळे असलेले क्षेत्रज्ञ-तत्त्व जाणले जाईल, ते ऐक,] अमानित्व (स्वतःच्या मान-सन्मानाची इच्छा न करणे), दंभहीनता, अहिंसा, क्षमा (सहिष्णुता), सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता, मन व इंद्रियांचा संयम, इंद्रियांच्या विषयांप्रति विरक्ती, अहंकाराचा अभाव, जन्म-मृत्यू- वार्धक्य (म्हातारपण)-रोग इत्यादींचे वारंवार दुःख व दोष म्हणून चिंतन करणे, स्त्री-पुत्र-गृह इत्यादींमध्ये ममता न ठेवणे, इतरांच्या सुख-दुःखात आविष्ट न होणे, इष्ट-अनिष्ट प्राप्तीत सदा समभाव, अनन्य निष्ठेने माझ्यावरील अचंचल (अटळ) भक्ती, निर्जन स्थाने प्रिय वाटणे, जेथे बहिर्मुख लोकांचा समुदाय जमा होतो अशा स्थानांपासून दूर राहणे, नेहमी आत्मविषयक ज्ञानाची चर्चा करणे आणि तत्त्वज्ञानाच्या प्रयोजनाचा शोध घेणे—या सर्वांना ‘ज्ञान’ असे म्हटले जाते. जे काही याच्या विपरीत (विरुद्ध) आहे, ते अज्ञान म्हटले जाते.

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥13॥
13। जो ‘ज्ञेय’ अर्थात् जानने योग्य है और जिसे जानकर मृत्यु को अतिक्रम (अर्थात् मोक्ष प्राप्त) किया जाता है, अब मैं तुम्हें वह बतलाता हूँ। वह वस्तु है—‘ब्रह्म', वह अनादि (सनातन) है, मेरे आश्रित तत्त्व है, उसे न ‘सत्’ कहा जा

सकता है और न ‘असत्’ (अर्थात् वह कार्य-कारण के अतीत है)।
१३. जे ‘ज्ञेय’—म्हणजे जाणण्यास योग्य आहे—आणि ज्याला जाणून मृत्यूचा अतिक्रम (म्हणजे मोक्ष) प्राप्त होतो, ते आता मी तुला सांगतो. ती वस्तू म्हणजे ‘ब्रह्म’. ते अनादि (सनातन) आहे, माझे आश्रित-तत्त्व आहे. त्याला ‘सत्’ असेही म्हणता येत नाही आणि ‘असत्’ असेही म्हणता येत नाही (म्हणजेच ते कार्य-कारणाच्या पलीकडे आहे).

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥14॥
14। उस ‘ब्रह्म’ के हाथ, पैर, नेत्र, मस्तक, मुख और कान सर्वत्र विद्यमान हैं। इस प्रकार परमात्मा जगत की सब वस्तुओं में व्याप्त होकर अवस्थित है।
१४. त्या ‘ब्रह्मा’चे हात, पाय, नेत्र, मस्तक, मुख आणि कान सर्वत्र विद्यमान आहेत. अशा प्रकारे परमात्मा जगातील सर्व वस्तूंमध्ये व्याप्त होऊन स्थित आहे.

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥15॥

15। वह बृहत् तत्त्व सभी इन्द्रियों तथा गुणों का प्रकाशक है, फिर भी समस्त प्राकृत इन्द्रियों से रहित है। वह अनासक्त है फिर भी सबका पालन करता है; वह निर्गुण (प्राकृत गुण-रहित) होते हुए भी अप्राकृत षड़ैश्वर्य-गुणों का स्वामी है।
15। ते बृहत् तत्त्व सर्व इंद्रिये व गुणांचे प्रकाशक आहे, तरीही समस्त प्राकृत इंद्रियांनी रहित आहे. ते अनासक्त आहे तरीही सर्वांचे पालन करते; ते निर्गुण (प्राकृत गुण-रहित) असूनही अप्राकृत षडैश्वर्य-गुणांचे स्वामी आहे.
१५. ते बृहत्तत्त्व सर्व इंद्रिये आणि गुण यांचे प्रकाशक आहे, तरीही ते सर्व प्राकृत इंद्रियांपासून रहित आहे. ते अनासक्त आहे, तरी सर्वांचे पालनपोषण करते. ते निर्गुण (प्राकृत गुणरहित) असूनही अप्राकृत अशा षडैश्वर्य-गुणांचे स्वामी आहे.

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥16॥
16। वह तत्त्व-वस्तु चिद्-अचिद् सब प्राणियों के बाहर
और भीतर विद्यमान है; [सभी कारणों का कारण होने के कारण] वह ही इस चर-अचर जगत का कारण है; अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है (अर्थात् उसे स्पष्ट रूप में जाना नहीं जा सकता); वह [अज्ञ व्यक्तियों के लिए] बहुत दूर होते हुए भी [अनन्य भक्तों के लिए] बहुत निकट है।
१६। ती तत्त्व- चित्- सर्व प्राण्यांच्या बाहेर आणि आतही विद्यमान आहे; [सर्व कारणांचे कारण असल्यामुळे] तीच या चर-अचर जगताचे कारण आहे; अत्यंत सूक्ष्म असल्यामुळे अविज्ञेय आहे (म्हणजे तिला स्पष्ट रूपात जाणता येत नाही); ती [अज्ञ व्यक्तींसाठी] अत्यंत दूर असूनही [अनन्य भक्तांसाठी] अत्यंत जवळ आहे.

अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥17॥
17। वह पूर्ण व अखण्डित होते हुए भी सब प्राणियों में विभाजित प्रतीत होता है। सब प्राणियों का पालन करने वाला, संहार करने वाला तथा सृष्टि करने वाला उसे ही जानो।

17। ती तत्त्व-वस्तू पूर्ण व अखंड असूनही सर्व प्राणिमात्रांमध्ये विभाजित झाल्यासारखी भासते. सर्व प्राणिमात्रांचे पालन करणारी, संहार करणारी तसेच सृष्टी निर्माण करणारी तीच तत्त्व-वस्तू आहे असे तू जाण.

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्॥18॥
18। वह चन्द्र-सूर्य आदि समस्त ज्योतिर्मय वस्तुओं की
भी परम ज्योति अर्थात् प्रकाशस्रोत है; वह अज्ञान से अतीत तत्त्व-वस्तु है; वह [बुद्धि-वृत्ति में व्यक्त होता है, इसीलिए] ज्ञान स्वरूप है, [रूप-गुण आदि-विशिष्ट होने के कारण] ज्ञेय वस्तु (जानने योग्य) है, ज्ञान के साधन द्वारा प्राप्य होने के कारण] ज्ञान से ही देखा-समझा जाता है; वह ही सब के हृदय में विराजमान है।
18। ती चंद्र-सूर्य इत्यादी समस्त तेजस्वी वस्तूंचीही परम ज्योती म्हणजेच प्रकाशस्रोत आहे; ती अज्ञानाच्या पलीकडील तत्त्व-वस्तू आहे; ती [बुद्धिवृत्तीत व्यक्त होते म्हणून] ज्ञानस्वरूप आहे, [रूप-गुणादिकांनी युक्त असल्याकारणाने] ज्ञेय वस्तू (जाणण्यास योग्य) आहे, [ज्ञानाच्या साधनाने प्राप्त होणारी असल्यामुळे] ज्ञानानेच पाहिली-समजली जाते; तीच सर्वांच्या हृदयात विराजमान आहे.
18। ती चंद्र-सूर्य इत्यादी समस्त तेजस्वी वस्तूंचीही परम ज्योती म्हणजेच प्रकाशस्रोत आहे; ती अज्ञानाच्या पलीकडील तत्त्व-वस्तू आहे; ती [बुद्धिवृत्तीत व्यक्त होते म्हणून] ज्ञानस्वरूप आहे, [रूप-गुण आदींनी युक्त असल्यामुळे] ज्ञेय वस्तू (जाणण्यास योग्य) आहे, [ज्ञानाच्या साधनाने प्राप्त होणारी असल्यामुळे] ज्ञानानेच पाहिली-समजली जाते; तीच सर्वांच्या हृदयात विराजमान आहे.

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥19॥
19। इस प्रकार ‘क्षेत्र', ‘ज्ञान’ तथा ‘ज्ञेय’ तत्त्व के विषय में तुम्हें संक्षेप में कहा है। इन सब से भलीभाँति

अवगत होकर मेरा भक्त मेरे प्रति प्रेम-भक्ति को प्राप्त करने के योग्य होता है।
19. अशा प्रकारे, ‘क्षेत्र’, ‘ज्ञान’ आणि ‘ज्ञेय’ या तत्त्वांविषयी मी तुम्हाला थोडक्यात सांगितले आहे. या सर्वांची नीट ओळख करून घेऊन माझा भक्त माझ्याविषयी प्रेमभक्ती प्राप्त करण्यास योग्य होतो.
१९। अशा प्रकारे ‘क्षेत्र’, ‘ज्ञान’ आणि ‘ज्ञेय’ या तत्त्वांविषयी तुला संक्षेपाने सांगितले आहे. या सर्वांना पूर्णपणे समजून घेऊन माझा भक्त माझ्याविषयी प्रेमभक्ती प्राप्त करण्यास पात्र होतो.

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥20॥
20। प्रकृति तथा पुरुष [जीव]—दोनों को ही तुम अनादि (सनातन) जानो। यह भी जान लो कि बद्ध-जीवों के राग-द्वेष आदि सब विकार तथा सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं (अर्थात् वे जीवों के स्वरूपगत तत्त्व नहीं हैं)।
२०। प्रकृती तसेच पुरुष [जीव]—दोघांनाही तू अनादि (सनातन) जाण. हेही जाणून घे की बद्ध-जीवांचे राग-द्वेष इत्यादी सर्व विकार तसेच सत्त्व, रज आणि तम हे तिन्ही गुण प्रकृतीपासूनच उत्पन्न झालेले आहेत (म्हणजे ते जीवांच्या स्वरूपगत तत्त्व नाहीत).
२०। प्रकृती आणि पुरुष (जीव) या दोघांनाही अनादि (सनातन) समज. तसेच हेही जाणून घे की बद्धजीवांचे राग-द्वेष इत्यादी सर्व विकार आणि सत्त्व, रज व तम हे तीन गुण प्रकृतीतूनच उत्पन्न झाले आहेत (म्हणजेच ते जीवाच्या स्वरूपगत तत्त्वात नाहीत).

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥21॥
21। कार्य (शरीर) तथा कारण (इन्द्रियाँ) इनकी कार्य-प्रेरणा के लिए ‘प्रकृति’ को ही हेतु या निमित्त कहा जाता है; किन्तु जड़ सुख-दुःख आदि के भोग का कारण ‘पुरुष’ अर्थात् जीव को ही कहा जाता है।
२१। कार्य (शरीर) तसेच कारण (इंद्रिये) यांच्या कार्य-

प्रेरणेसाठी ‘प्रकृती’लाच हेतू किंवा निमित्त म्हटले जाते; परंतु जड सुख-दुःख इत्यादींच्या भोगाचे कारण ‘पुरुष’ अर्थात जीवालाच म्हटले जाते.
२१। कार्य (शरीर) आणि कारण (इंद्रिये) यांच्या कार्यप्रेरणेकरिता ‘प्रकृती’ हाच हेतू किंवा निमित्त मानला जातो; परंतु जड सुख-दुःख इत्यादींचा भोग करण्याचे कारण ‘पुरुष’ म्हणजेच जीव मानला जातो.

पुरुष: प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्। कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥22॥
22। [वह किस प्रकार है, सुनो,] प्रकृति में अवस्थित होकर
ही पुरुष (जीव) प्रकृति के गुणों (अर्थात् सुख-दुःख आदि समस्त विषयों) का भोग करता है। प्रकृति के इन गुणों के प्रति आसक्ति ही उस जीवात्मा के सत्-असत् (अच्छी या बुरी) विभिन्न योनियों में जन्म लेने का कारण बनती है।
२२। [तो कशा प्रकारे आहे, ऐक,] प्रकृतीमध्ये अवस्थित राहूनच पुरुष (जीव) प्रकृतीच्या गुणांचा (म्हणजे सुख-दुःख इत्यादी समस्त विषयांचा) भोग घेतो. प्रकृतीच्या या गुणांप्रती आसक्ती हीच त्या जीवात्म्याच्या सत्-असत् (चांगल्या किंवा वाईट) विविध योनींमध्ये जन्म घेण्याचे कारण बनते.
२२। ऐक, प्रकृतीत स्थित राहूनच पुरुष (जीव) प्रकृतीच्या गुणांचा — म्हणजे सुख-दुःख इत्यादी सर्व विषयांचा—भोग करतो. या गुणांबद्दलची आसक्तीच जीवात्म्याला सत्-असत् (चांगल्या किंवा वाईट) विविध योनींमध्ये जन्म घेण्याचे कारण ठरते.

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥23॥

23। इस देह में जीवात्मा से भिन्न अन्य जो एक पुरुष अवस्थित रहते हैं, उन्हें ‘महेश्वर’ अथवा ‘परमात्मा’ भी कहा जाता है। [यदि कहो कि, वहाँ उनकी भूमिका क्या है, तो सुनो—] वे वहाँ ‘उपद्रष्टा’ (सब जीवों के कर्मों के साक्षी), ‘अनुमन्ता’ (अनुमति देने वाले), भर्त्ता (धारण करने वाले) तथा भोक्ता (पालन करने वाले) हैं।
२३. या देहामध्ये जीवात्म्याहून भिन्न असा जो एक अन्य पुरुष स्थित आहे, त्यांना ‘महेश्वर’ अथवा ‘परमात्मा’ असेही म्हटले जाते. [जर म्हणाल की, तेथे त्यांची भूमिका काय आहे, तर ऐक—] ते तेथे ‘उपद्रष्टा’ (सर्व जीवांच्या कर्मांचे साक्षी), ‘अनुमन्ता’ (अनुमती देणारे), भर्ता (धारण करणारे) तथा भोक्ता (पालन करणारे) आहेत.

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥24।
24। जो इस प्रणाली से निर्गुण पुरुष (परमात्मा), सगुण माया-प्रकृति तथा जीव-तत्त्व को जान लेता है (अर्थात् विवेक प्राप्त कर आत्म-धर्म में स्थित हो जाता है), उसे जड़ जगत में सब प्रकार के कर्त्तव्य कर्म पूरे करते हुए भी पुर्नजन्म नहीं लेना पड़ता।
२४. जो या पद्धतीने निर्गुण पुरुष (परमात्मा), सगुण माया-प्रकृती आणि जीव-तत्त्व यांना जाणतो (अर्थात विवेक प्राप्त करून आत्म-धर्मात स्थित होतो), त्याला जड जगतात सर्व प्रकारची कर्तव्य कर्मे करत असतानाही पुनर्जन्म घ्यावा लागत नाही.
२४। जो या प्रणालीने निर्गुण पुरुष (परमात्मा), सगुण माया-प्रकृती आणि जीव-तत्त्व यांना जाणतो (म्हणजे विवेक प्राप्त करून आत्मधर्मात स्थित होतो), त्याला जड जगतात सर्व प्रकारची कर्तव्ये पूर्ण करत असतानाही पुर्नजन्म घ्यावा लागत नाही.

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥25॥
25। कुछ [विवेकी पुरुष] विशुद्ध चित्त होकर स्वयं ही भगवान् के चिन्तन-रूपी ध्यान के द्वारा अपने हृदय में स्थित उस परम पुरुष का दर्शन कर लेते हैं, कुछ (ज्ञानी) इसे

सांख्ययोग के द्वारा, कुछ (योगी) अष्टांगयोग के द्वारा और कुछ निष्काम कर्मयोग के द्वारा परमात्मा को [अपने-अपने अधिकार अनुसार] अनुभव करते हैं।
२५. काही [विवेकी पुरुष] विशुद्ध चित्त होऊन स्वतःच भगवंतांच्या चिंतनरूपी ध्यानाद्वारे आपल्या हृदयात स्थित असलेल्या त्या परमपुरुषाचे दर्शन करतात, काही (ज्ञानी) त्यांना सांख्ययोगाद्वारे, काही (योगी) अष्टांगयोगाद्वारे आणि काही निष्काम कर्मयोगाद्वारे परमात्म्याला [आपापल्या अधिकारानुसार] अनुभवतात.
२५। काही विवेकी पुरुष शुद्ध चित्ताने स्वतःच भगवंतांच्या चिंतनरूपी ध्यानाद्वारे आपल्या हृदयात स्थित त्या परमपुरुषाचे दर्शन करतात; काही ज्ञानी सांख्ययोगाने, काही योगी अष्टांगयोगाने आणि काही निष्काम कर्मयोगाने परमात्म्याचा आपल्या अधिकारानुसार अनुभव करतात.

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥26॥

26। फिर कुछ ऐसे लोग भी हैं जो इस प्रकार तत्त्व को स्वयं न जानते हुए भी दूसरे आचरणशील व्यक्तियों से सुनकर श्रद्धा सहित परमात्मा की उपासना में लगे रहते हैं। ऐसे श्रवणनिष्ठ (सुनी हुई बात को प्रमाण मानकर चलने वाले) लोग भी क्रमशः मृत्यु रूप संसार को पूरी तरह से पार कर जाते हैं।
२६. पुन्हा काही असे लोकही असतात जे या प्रकारे तत्त्व स्वतः न जाणताही इतर आचरणशील व्यक्तींकडून ऐकून श्रद्धापूर्वक परमात्म्याच्या उपासनेत रत राहतात. असे श्रवणनिष्ठ (ऐकलेल्या गोष्टीला प्रमाण मानून चालणारे) लोकही क्रमाक्रमाने मृत्युरूपी संसार पूर्णपणे पार करून जातात.

यावत्संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजंगमम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥27॥
27। हे भरतवंश श्रेष्ठ! यह जान लो कि, जगत में स्थावर-जंगम अर्थात् चर-अचर किसी भी प्राणी की सृष्टि, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही होती है।
२७। हे भरतवंशश्रेष्ठ! हे जाणून घे की जगतातील स्थावर-जंगम म्हणजेच चर-अचर कोणत्याही प्राण्याची सृष्टी (उत्पत्ती) ही क्षेत्र आणि क्षेत्रज्ञ यांच्या संयोगानेच होते.
२७. हे भरतवंशश्रेष्ठ! हे जाणून घे की, जगामध्ये स्थावर-जंगम अर्थात् चर-अचर कोणत्याही प्राण्याची सृष्टी (उत्पत्ती), क्षेत्र आणि क्षेत्रज्ञ यांच्या संयोगानेच होते.

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥28॥
28। सब विनाशशील स्थावर-जंगम प्राणियों में समभाव से अवस्थित अविनाशी परमेश्वर को जो देखता है, वह ही यथार्थदर्शी है।
२८। जो विनाशशील स्थावर-जंगम प्राण्यांमध्ये समभावाने अवस्थित असलेल्या अविनाशी परमेश्वराला पाहतो, तोच खरा यथार्थदर्शी आहे.

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥29॥
29। वह पुरुष सब प्राणियों में सर्वत्र समभाव से व्याप्त परमेश्वर को देखकर, दुष्ट मन के द्वारा स्वयं को अध:पतित (अर्थात् जीव की सत्ता का पतन) नहीं करता; इसलिए वह परम गति प्राप्त करता है।
२९। तो पुरुष सर्व प्राण्यांमध्ये सर्वत्र समभावाने व्याप्त असलेल्या परमेश्वराला पाहून, दुष्ट मनाद्वारे स्वतःला अधःपतित (म्हणजे जीवाच्या सत्तेचे पतन) करत नाही; म्हणून तो परम गती प्राप्त करतो.
२९. तो पुरुष सर्व प्राणिमात्रांमध्ये सर्वत्र समभावाने व्याप्त असलेल्या परमेश्वराला पाहून, दुष्ट मनाद्वारे स्वतःचे अधःपतन (अर्थात जीवाच्या अस्तित्वाचे पतन) करून घेत नाही; त्यामुळे त्याला परम गती प्राप्त होते.

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति॥30॥

30। जो इस प्रकार देखता है कि, [जीवों को कर्मफल देने वाले ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर] प्रकृति ही सारे कर्मों को सब प्रकार से सम्पादन करती है और जीवात्मा वस्तुतः कर्त्ता नहीं है, वह ही वास्तवदर्शी है।
३०. जो अशा प्रकारे जाणतो की, [जीवांना कर्मफळ देणाऱ्या ईश्वराकडून प्रेरित होऊन] प्रकृतीच सर्व कर्मे सर्व प्रकारे घडवून आणते आणि जीवात्मा वस्तुतः कर्ता नाही, तोच खरा वास्तवदर्शी आहे.
३०. जो असा पाहतो की जीवांना कर्मफल देणाऱ्या ईश्वराच्या प्रेरणेने प्रकृतीच सर्व कर्मांचे सर्व प्रकारे संपादन करते आणि जीवात्मा खरा कर्ता नाही, तोच वास्तवदर्शी आहे.

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥31॥
31। जब वह समझ लेता है कि,—स्थावर-जंगमात्मक सभी प्राणियों में जो अलग-अलग आकार तथा भाव हैं, वे सब [प्रलय के समय] एकमात्र प्रकृति में ही निहित रहते हैं एवं [सृष्टि के समय] प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं (वस्तुतः उस प्रकार का अंतर शुद्ध जीवात्म-स्वरूप में नहीं है), तब उस पुरुष को ब्रह्म-भाव प्राप्त होता है (अर्थात् शुद्ध चित्-तत्त्व में निष्ठ होकर वह अचित् जगत के संबंध में निर्लिप्त रहता है)।
३१. जेव्हा तो समजून घेतो की,—स्थावर-जंगमात्मक सर्व प्राण्यांमध्ये जे वेगवेगळे आकार आणि भाव आहेत, ते सर्व [प्रलयाच्या वेळी] एकमात्र प्रकृतीमध्येच निहित असतात आणि [सृष्टीच्या वेळी] प्रकृतीपासूनच उत्पन्न होतात (वस्तुतः त्या प्रकारचा भेद शुद्ध जीवात्म-स्वरूपात नाही), तेव्हा त्या पुरुषाला ब्रह्मभाव प्राप्त होतो (अर्थात शुद्ध चित्-तत्त्वात निष्ठ होऊन तो अचित् जगताच्या संबंधात निर्लिप्त राहतो).
३१. जेव्हा तो असा समजतो की स्थावर-जंगम सर्व प्राण्यांतील वेगवेगळे आकार व भाव हे [प्रलयकाळी] एकमेव प्रकृतीतच निहित राहतात आणि [सृष्टीकाळी] प्रकृतीतूनच उत्पन्न होतात (वस्तुतः असा भेद शुद्ध जीवात्मस्वरूपात नाही), तेव्हा त्या पुरुषाला ब्रह्मभाव प्राप्त होतो (म्हणजे

चित्‌-तत्त्वात निष्ठ राहून तो अचित् जगताशी निर्लिप्त राहतो).

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥32॥
32। हे कौन्तेय, [ब्रह्मसम्पन्न जीव तब यह देख पाता है कि,] परमात्मा अनादि (परम-कारण) तथा निर्गुण होने के कारण अव्यय (अर्थात् उनके ज्ञान तथा आनन्द आदि का ध्वंस नहीं) है, अतएव वे जड़ शरीर में [जीवात्मा के साथ] रहते हुए भी [बद्ध-जीवों की तरह] कोई कर्म नहीं करते या किसी शारीरिक-धर्म में लिप्त नहीं होते।
३२. हे कौंतेय, [ब्रह्मसंपन्न जीव तेव्हा हे पाहू शकतो की,] परमात्मा अनादि (परम-कारण) आणि निर्गुण असल्यामुळे अव्यय (अर्थात त्यांचे ज्ञान आणि आनंद इत्यादींचा नाश होत नाही) आहे, म्हणून ते जड शरीरात [जीवात्म्यासह] राहूनही [बद्ध-जीवांप्रमाणे] कोणतेही कर्म करत नाहीत किंवा कोणत्याही शारीरिक धर्मात लिप्त होत नाहीत.
३२. हे कौन्तेय, [ब्रह्मसम्पन्न जीव तेव्हा हे पाहतो की,] परमात्मा अनादि (परम-कारण) आणि निर्गुण असल्यामुळे अव्यय आहे (म्हणजे त्यांच्या ज्ञान व आनंद इत्यादींचा कधीही नाश होत नाही). म्हणूनच ते जड शरीरात [जीवात्म्यासोबत] असले तरी [बद्ध-जीवांसारखे] कोणतेही कर्म करत नाहीत किंवा कोणत्याही शारीरिक धर्मात लिप्त होत नाहीत.

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥33॥
33। जिस प्रकार सभी पदार्थों में व्याप्त होने पर भी ‘आकाश’ सूक्ष्म होने के कारण किसी वस्तु में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सभी शरीरों में अवस्थित होते हुए भी आत्मा देहधर्म में लिप्त नहीं होती।
३३. ज्या प्रकारे सर्व पदार्थांमध्ये व्याप्त असूनही ‘आकाश’ सूक्ष्म असल्यामुळे कोणत्याही वस्तूत लिप्त होत नाही, त्याचप्रमाणे सर्व शरीरांमध्ये अवस्थित असूनही आत्मा देहधर्मात लिप्त होत नाही.

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥34॥
34। हे भारत! जैसे एक ही सूर्य एक स्थान पर स्थित रहकर सारे जगत को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ‘क्षेत्री’ (देही) आत्मा भी समस्त क्षेत्र (देह) को प्रकाशित करती है (अर्थात् चेतना सम्पादन करती है)।
३४. हे भारत! जसा एकच सूर्य एका स्थानी स्थित राहून संपूर्ण जगताला प्रकाशित करतो, त्याचप्रमाणे ‘क्षेत्री’ (देही) आत्माही संपूर्ण क्षेत्र (देह) प्रकाशित करतो (म्हणजेच चेतना प्रदान करतो).
३४. हे भारत! ज्याप्रमाणे एकच सूर्य एका स्थानी स्थित राहून सारे जगत प्रकाशित करतो, त्याचप्रमाणे ‘क्षेत्री’ (देही) आत्मासुद्धा समस्त क्षेत्राला (देहाला) प्रकाशित करतो (अर्थात चेतना प्रदान करतो).

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥35॥
इति ‘प्रकृति-पुरुषविवेकयोगो’ नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥
35। इस प्रकार ज्ञान नेत्रों के द्वारा जो पुरुष क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का भेद तथा प्राणियों की प्रकृति के शिकंजे से मुक्ति का उपाय जान लेता है, वह परमपद को प्राप्त होता है।
३५. अशा प्रकारे ज्ञानरूपी नेत्रांनी जो पुरुष क्षेत्र आणि क्षेत्रज्ञ यांचा भेद तसेच प्राण्यांना प्रकृतीच्या तावडीतून मुक्त होण्याचा उपाय जाणतो, तो परमपदाला प्राप्त होतो.
३५. अशा प्रकारे ज्ञाननेत्रांद्वारे जो पुरुष क्षेत्र आणि क्षेत्रज्ञ यातील भेद तसेच प्राण्यांचा प्रकृतीच्या पाशातून मुक्तीचा उपाय जाणून घेतो, तो परमपद प्राप्त करतो. इति त्रयोदश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
इति त्रयोदश (तेराव्या) अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.

चतुर्दशोऽध्यायः
त्रिगुण-विभाग-योगः श्रीभगवानुवाच—
परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्। यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥1॥
1। श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन, सभी ज्ञान-साधनों में उत्तम ज्ञान- उपदेश मैं तुम्हें फिर बताता हूँ, जिसे जानकर सारे मुनियों ने इस देहबंधन से परा मुक्ति प्राप्त की है।
१। श्रीभगवान म्हणाले—हे अर्जुन, सर्व ज्ञानसाधनांमध्ये श्रेष्ठ असा ज्ञानोपदेश मी तुला पुन्हा सांगतो. हा उपदेश जाणून सर्व मुनिजनांनी देहबंधनापलीकडे जाऊन परा (परम) मुक्ती प्राप्त केली आहे.

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥2॥
2। इस ज्ञान के आश्रय से उन्होंने मेरा साधर्म्य प्राप्त किया है (अर्थात् मेरे समान अप्राकृत धर्म, अप्राकृत रूप तथा अप्राकृत अवस्था प्राप्त की है)। वे तब सृष्टि के समय पुनः जन्म ग्रहण नहीं करते, या प्रलयकाल में भी मृत्यु-यंत्रणा के शिकार नहीं होते हैं।
२। या ज्ञानाच्या आधाराने त्यांनी माझे साधर्म्य प्राप्त केले आहे (म्हणजेच माझ्यासारखा अप्राकृत धर्म, अप्राकृत रूप आणि अप्राकृत अवस्था प्राप्त केली आहे). त्यामुळे ते सृष्टीच्या वेळी पुन्हा जन्म घेत नाहीत, आणि प्रलयकाळातही मृत्यू-यंत्रणेचे शिकार होत नाहीत.

योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥3॥
3। हे भारत! ‘महत्ब्रह्म ’-रूपी प्रकृति ही योनि- स्वरूपा (अर्थात् जन्म का स्रोत) है; उसमें मैं जीव-रूपी बीज आधान करता हूँ एवं उसी से ही समस्त जीवों का जन्म सम्भव होता है।
3> हे भारत! ‘महत्ब्रह्म’-रूपी प्रकृतीच योनिस्वरूपा (अर्थात जन्माचा स्रोत) आहे; त्यात मी जीव-रूपी बीज आधान (रोपण) करतो आणि त्याचपासूनच सर्व जीवांचा जन्म संभवतो.
३। हे भारत! ‘महत्ब्रह्म ’-रूपी प्रकृती हीच

योनिस्वरूपा म्हणजे जन्माचा स्रोत आहे. त्यात मी जीव-रूपी बीज रोपण करतो आणि त्यातूनच सर्व जीवांचा जन्म संभवतो.

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥4॥
4। हे कौन्तेय! आब्रह्म-स्तम्ब समस्त योनियों में जितने शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी ‘योनि’ (उत्पत्ति- स्थान) ‘’-रूपी प्रकृति है; और मैं उनका बीज-प्रदाता पिता हूँ।
४। हे कौन्तेय! आब्रह्म-स्तंबपर्यंत समस्त योनींमध्ये जितकी शरीरे उत्पन्न होतात, त्या सर्वांची ‘योनी’ (उत्पत्तिस्थान) ‘महत्-ब्रह्म’-रूपी प्रकृती आहे; आणि मी त्यांचा बीजप्रदाता पिता आहे।
४. हे कौंतेय! सजीव सृष्टीतील ब्रह्मदेवांपासून ते गवताच्या पात्यापर्यंत सर्व योनींमध्ये जितकी शरीरे उत्पन्न होतात, त्या सर्वांची ‘योनी’ (उत्पत्तीस्थान) ‘’- रूपी प्रकृती आहे; आणि मी त्यांचा बीज देणारा पिता आहे.

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥5॥
5। हे महाबाहो! भौतिक प्रकृति से ही उत्पन्न हुए सत्त्व, रजः और तमः—ये तीनों ‘गुण’ देह में अवस्थित देही जीवात्मा को इस देह में बाँध लेते हैं, किन्तु आत्मा स्वरूपतः अव्यय (निर्विकार) रहती है।
५। हे महाबाहो! भौतिक प्रकृतीतून उत्पन्न झालेले सत्त्व, रजः आणि तमः हे तीन ‘गुण’ देहात स्थित असलेल्या जीवात्म्याला या देहाशी बांधून ठेवतात. परंतु आत्मा स्वरूपतः अव्यय म्हणजेच निर्विकार राहतो.

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्। सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥6॥
6। हे निष्पाप! उक्त तीनों गुणों में से जो ‘सत्त्व’-गुण है, वह अन्य दोनों गुणों की अपेक्षा निर्मल होने के कारण प्रकाश प्रदान करने वाला (ज्ञानव्यंजक) और मनुष्यों को दोषों से मुक्त करने वाला अर्थात् शान्त है; वह जीवों को सुख तथा ज्ञान के संग द्वारा (अर्थात् ‘मैं सुखी हूँ', ‘मैं

ज्ञानी हूँ — इस प्रकार के सात्त्विक अभिमान में) बाँधता है।
६। हे निष्पाप! या तीन गुणांपैकी ‘सत्त्वगुण’ हा इतर दोन्ही गुणांच्या तुलनेत निर्मळ असल्यामुळे प्रकाश देणारा (ज्ञान व्यक्त करणारा किंवा ज्ञान प्रकट करणारा) आणि मनुष्यांना दोषांपासून मुक्त करणारा म्हणजे शांत आहे. परंतु तो जीवांना सुख व ज्ञानाच्या संगाने (म्हणजे ‘मी सुखी आहे’, ‘मी ज्ञानी आहे’—अशा सात्त्विक अभिमानाने) बांधतो.

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्॥7॥
7। हे कौन्तेय! रजोगुण को रागात्मक (अर्थात् स्त्री- पुरुष के परस्पर संगाभिलाष-विशिष्ट) के रूप में जानो। यह गुण भोगों की तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होता है; इसीलिए वह जीवात्मा को कर्म की अभिलाषा (सकाम कर्म) के द्वारा बाँधता है।
७. हे कौंतेय! रजोगुणाला रागात्मक (अर्थात स्त्री- पुरुषांच्या परस्पर संगाच्या अभिलाषेने युक्त) असे जाण. हा गुण भोगांच्या तृष्णेतून आणि आसक्तीतून उत्पन्न होतो; म्हणूनच तो जीवात्म्याला कर्माच्या अभिलाषेने (सकाम कर्माने) बांधून टाकतो.
७। हे कौन्तेय! रजोगुणाला ‘रागात्मक’ (म्हणजे स्त्री- पुरुषांच्या परस्पर संगाची अभिलाषा असलेला) असे जाण. हा गुण भोगांची तृष्णा आणि आसक्तीपासून उत्पन्न होतो; म्हणूनच तो जीवात्म्याला सकाम कर्माच्या अभिलाषेने बांधतो.

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥8॥
8। हे भारत! तमोगुण को किन्तु अज्ञान से उत्पन्न हुआ जानो; वह सभी देही जीवों के लिए मोहकारक (भ्रांति पैदा करने वाला) है; वह प्रमाद (अनमना मन), आलस्य तथा निद्रा द्वारा जीवों को बाँधता है।
8। हे भारत (अर्जुन)! तमोगुण हा मात्र अज्ञानापासून

उत्पन्न झालेला आहे असे तू जाण; तो सर्व देहधारी जीवांना मोहात पाडणारा (भ्रम किंवा भ्रांती उत्पन्न करणारा) आहे; तो प्रमाद (विचलित किंवा चंचल मन), आळस आणि निद्रा (झोप) यांच्याद्वारे जीवाला बांधून ठेवतो.
८। हे भारत! तमोगुणाला अज्ञानातून उत्पन्न झालेला म्हणून जाण. तो सर्व देही जीवांसाठी मोहकारक आहे—भ्रांती किंवा गोंधळ निर्माण करणारा आहे. तो प्रमाद (विचलित मन), आळस आणि निद्रा यांच्याद्वारे जीवाला बांधतो.

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥9॥
9। हे भारत! [संक्षेप में बात केवल इतनी है कि,]
सत्त्वगुण जीवों को सुख (की खोज) से बाँधता है, रजोगुण सकाम कर्म से और तमोगुण ज्ञान को ढककर प्रमाद में ही बाँधता है।
९. हे भारत! [थोडक्यात सांगायचे तर,] सत्त्वगुण जीवांना सुखाच्या (शोधाच्या) आसक्तीने बांधतो, रजोगुण सकाम कर्माने बांधतो आणि तमोगुण ज्ञान झाकून टाकून प्रमादातच बांधून ठेवतो.
९। हे भारत! संक्षेपाने सांगायचे झाले तर—सत्त्वगुण जीवाला सुखाच्या शोधाने बांधतो; रजोगुण सकाम कर्मांनी बांधतो; आणि तमोगुण ज्ञान झाकून प्रमादातच जीवाला गुंतवतो.

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥10॥
10। हे भारत! कभी-कभी सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण को परास्त करके प्रबल हो जाता है, कभी सत्त्वगुण तथा तमोगुण को दबाकर, रजोगुण प्रबल हो जाता है और कभी ऐसा होता है कि तमोगुण ही सत्त्वगुण तथा रजोगुण को पराभूत कर देता है (अर्थात् तीनों गुणों से बँधे होने पर भी कोई एक गुण ही प्रबल रहता है)। इस प्रकार श्रेष्ठता के लिए निरन्तर स्पर्धा चलती रहती है।
10। हे भारत (अर्जुन)! कधी हा सत्त्वगुण रजोगुण आणि तमोगुणाचा पराभव करून प्रबळ होतो; कधी सत्त्वगुण आणि तमोगुणाला दाबून रजोगुण प्रबळ होतो; तर कधी तमोगुण सत्त्वगुण आणि रजोगुणाला पराभूत करून वरचढ ठरतो. (अर्थात, जीव तिन्ही गुणांनी बांधलेला असला तरीही, एका वेळी कोणताही

एक गुण प्रबळ राहतो.) अशा प्रकारे श्रेष्ठत्वासाठी या तिन्ही गुणांमध्ये निरंतर स्पर्धा चालत असते.
१०। हे भारत! कधी कधी सत्त्वगुण रजोगुण आणि तमोगुण यांना पराभूत करून प्रबळ होतो; कधी सत्त्वगुण आणि तमोगुण यांना दाबून रजोगुण प्रबळ होतो; आणि कधी तमोगुणच सत्त्वगुण व रजोगुण यांना पराभूत करून वरचढ ठरतो. जीव तीन गुणांनी बांधलेला असतानाही एखादा गुणच प्रबळ राहतो. अशा रीतीने श्रेष्ठत्वासाठी अखंड स्पर्धा चालू राहते.

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥11॥
11। [किस समय कौनसा गुण प्रबल है, उसका लक्षण बतला रहा हूँ,] जब इस देह के सब द्वारों में अर्थात कान और सब ज्ञान-इन्द्रियों में ज्ञान का प्रकाश (अर्थात् वस्तु का यथायथ बोध) हो जाता है और उससे उत्पन्न सुख का अनुभव होता है, तब जानना चाहिए कि सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है।
११। [कुठल्या वेळी कोणता गुण प्रबल असतो, त्याचे लक्षण सांगतो.] जेव्हा या देहाचे सर्व द्वार म्हणजे कान व इतर ज्ञानेंद्रिये यांमध्ये ज्ञानाचा प्रकाश (म्हणजे वस्तूचा यथार्थ बोध) प्रकट होतो आणि त्यातून उत्पन्न झालेल्या सुखाचा अनुभव होतो, तेव्हा हे जाणावे की सत्त्वगुणाची वृद्धी (वाढ) झाली आहे.

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥12॥
12। हे भारतर्षभ! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ (अधिक धन-वृद्धि की अभिलाषा), सांसारिक चेष्टा, कर्मों का उद्यम, अतृप्ति तथा भोगों की लालसा —ये सब पैदा होते हैं।
१२। हे भारतर्षभ! रजोगुण वाढल्यावर लोभ (अधिक धनसंपत्तीची इच्छा), सांसारिक प्रयत्न, विविध कर्मे करण्याची धडपड, अतृप्ती आणि विषयभोगांची लालसा—हे सर्व उत्पन्न होतात.

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥13॥

13 Ah, my [illegible]! [illegible] of [illegible] of [illegible] (Isaiah), [illegible] (Jeremiah-Ezekiel), [illegible] (Daniel) and [illegible] (Twelve Minor)—to [illegible] [illegible]

[illegible] of [illegible]! [illegible] [illegible] [illegible] (Isaiah), [illegible] (Jeremiah-Ezekiel), [illegible] (Daniel) and [illegible] (Twelve Minor)—to [illegible] [illegible].

[illegible] [illegible] [illegible] of [illegible] [illegible] [illegible]

14। [जीव को किस गुण की प्रबलता से क्या गति प्राप्त होती है, उसे सुनो,] सत्वगुण प्रबल रहने पर जब देही जीव देहत्याग करता है, तब वह हिरण्यगर्भ आदि के उपासकों को प्राप्त होने वाले सुखप्रद लोकों को प्राप्त होता है।
१४। [जीवाला कोणत्या गुणाच्या प्राबल्याने कोणती गती मिळते, ते ऐक.] सत्त्वगुण प्रबल असताना जेव्हा जीव देहत्याग करतो, तेव्हा तो हिरण्यगर्भ आदींच्या उपासकांना मिळणाऱ्या सुखप्रद लोकांना (स्थानांना) प्राप्त होतो.

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥15॥
15। रजोगुण की प्रबल अवस्था में मृत्यु होने पर जीव, कर्मों में आसक्त (सकाम) मनुष्यों के बीच में जन्म लेता है और जब कोई तमोगुण में मरता है, तो वह मूढ़ (पशु-पक्षी आदि) योनियों में जन्म ग्रहण करता है।
१५। रजोगुण प्रबल असण्याच्या अवस्थेत मृत्यू झाल्यास जीव कर्मांमध्ये आसक्त असणाऱ्या (सकाम) मनुष्यांमध्ये जन्मास येतो; आणि जेव्हा कोणी जीव तमोगुण प्रबल असताना मृत्यू पावल्यास, तो मूढ योनींमध्ये (पशु-पक्षी इत्यादी रूपात) जन्म घेतो.

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥16॥

16। सात्त्विक कर्म का फल—निर्मल अर्थात् सुखकर होता है, राजसिक कर्मों का फल—दुःखमय (अल्प सुख के साथ) और तामसिक कर्मों का फल —अज्ञान अर्थात् अचेतनता के रूप में उक्त होता है।
१६. सात्त्विक कर्माचे फळ—निर्मळ अर्थात सुखकर असते, राजसिक कर्मांचे फळ—(अल्प सुखासह) दुःखमय आणि तामसिक कर्मांचे फळ— अज्ञान अर्थात अचेतनतेच्या रूपात सांगितले गेले आहे.
१६। सात्त्विक कर्माचे फळ निर्मळ म्हणजे सुखदायक असते. राजसिक कर्मांचे फळ (अल्प सुखासह) दुःखमय असते, आणि तामसिक कर्मांचे फळ अज्ञान म्हणजेच अचेतनतेच्या रूपात प्रकट होते.

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥17॥
17। सत्त्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से प्रमाद, मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होता है।
१७। सत्त्वगुणापासून ज्ञान उत्पन्न होते; रजोगुणापासून लोभ निर्माण होतो; आणि तमोगुणापासून प्रमाद, मोह व अज्ञान उत्पन्न होतात.
17। सत्त्वगुणामुळे ज्ञान, रजोगुणामुळे लोभ आणि तमोगुणामुळे प्रमाद, मोह तसेच अज्ञान उत्पन्न होते.

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥18॥

18। सत्त्वगुणी व्यक्ति ऊपर के लोकों में (‘सत्य’ लोक तक) गति प्राप्त करते हैं, राजसिक व्यक्ति मध्यम लोकों में अर्थात् मनुष्यलोक में अवस्थान करते हैं, एवं निकृष्ट गुण वाले (आलस्य प्रमाद आदि परायण) तामसिक व्यक्ति नरक आदि अधम लोकों में गमन करते हैं।
१८। सत्त्वगुणी व्यक्ती वरच्या लोकांमध्ये (‘सत्यलोक’ पर्यंत) गती प्राप्त करतात. राजसिक व्यक्ती मध्यम लोकांमध्ये म्हणजेच मनुष्यलोकात राहतात. आणि निकृष्ट गुण असलेले (आळस, प्रमाद इत्यादींत आसक्त) तामसिक व्यक्ती नरक व इतर अधम लोकांमध्ये गमन करतात.

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥19॥
19। [अब प्रकृति के इन गुणों से उद्धार प्राप्ति का उपाय सुनो,] जब द्रष्टा जीव अनुभव कर लेता है कि इन तीन गुणों के अलावा कोई दूसरा कर्त्ता नहीं है और जब वह जान लेता है कि, आत्मा वस्तुतः गुणों से परे है, तब वह ‘मद्भाव’ (मेरे प्रति शुद्ध-भक्ति) को प्राप्त करता है।
१९। [आता प्रकृतीच्या गुणांपासून मुक्त होण्याचा उपाय ऐक.] जेव्हा द्रष्टा जीव अनुभवतो की या तीन गुणांखेरीज दुसरा कोणताही कर्ता नाही, आणि जेव्हा तो जाणतो की आत्मा प्रत्यक्षात गुणांच्या पलीकडे आहे—तेव्हा तो ‘मद्भाव’ म्हणजे माझ्यावरील शुद्ध भक्ती प्राप्त करतो.

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्। जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥20॥

20। देही जीव, देह की उत्पत्ति के कारण-स्वरूप इन तीनों गुणों को लाँघकर जन्म-मृत्यु और बुढ़ापे के दुःख से छूटकर ‘अमृत’ अर्थात् निर्गुण प्रेमानन्द को प्राप्त होता है।
२०। देही जीव देहाच्या उत्पत्तीचे कारण असलेल्या या तीन गुणांना ओलांडून जन्म-मृत्यू आणि वार्धक्याच्या (म्हातारपणाच्या) दुःखातून मुक्त होतो आणि ‘अमृत’ म्हणजेच निर्गुण प्रेमानंद प्राप्त करतो.

अर्जुन उवाच—
कैर्लिंगैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते॥21॥
21। अर्जुन ने कहा—प्रभु! तीन गुणों को लाँघने वाले व्यक्ति के क्या लक्षण होते हैं? उसका आचरण कैसा होता है? किन उपायों से वह इन तीनों गुणों के परे जा सकता है?
२१। अर्जुन म्हणाला—प्रभू! तीन गुणांना ओलांडणाऱ्या व्यक्तीची लक्षणे कोणती असतात? तिचे आचरण कसे असते? आणि कोणत्या उपायांनी ती या तीन गुणांच्या पलीकडे जाऊ शकते?

श्रीभगवानुवाच—
प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥22॥

22। श्रीभगवान् ने कहा,—हे पाण्डव! [पहले गुणातीत व्यक्ति के लक्षण बता रहा हूँ] सत्त्वगुण का कार्य ‘प्रकाश’, रजोगुण का कार्य ‘प्रवृत्ति’ तथा तमोगुण का कार्य ‘मोह’—इन सबके स्वाभाविक उदय होने पर जो दुःखजनक बुद्धि के द्वारा उनसे द्वेष नहीं करता, या सुख के लिए उनकी निवृत्ति (विनाश) की भी आकांक्षा नहीं करता है [उसे गुणातीत कहा जाता है]।
२२। श्रीभगवान म्हणाले,—हे पांडव! [प्रथम गुणातीत व्यक्तीची लक्षणे मी सांगतो आहे] सत्त्वगुणाचे कार्य ‘प्रकाश’, रजोगुणाचे कार्य ‘प्रवृत्ती’ तथा तमोगुणाचे कार्य ‘मोह’—या सर्वांचा स्वाभाविक उदय झाला असता त्यांना दुःखदायक समजून त्यांचा द्वेष करत नाही, किंवा सुखासाठी त्यांच्या निवृत्तीची (विनाशाची) देखील आकांक्षा करत नाही [त्या व्यक्तीला गुणातीत म्हटले जाते].

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेंगते॥23॥

23। [उसका आचरण कैसा होता है, बता रहा हूँ,] जो उदासीन
की भाँति रहता हुआ, उक्त त्रिगुणों के कार्यों से विचलित नहीं होता और ‘सभी गुण उसके मन व शरीर में अपना-अपना कार्य कर रहे हैं, वस्तुतः आत्मा का गुणों के साथ कोई संबंध नहीं है’—इस विचार में जो प्रतिष्ठित रहता है, और गुणों के कार्य में लिप्त नहीं होता, [वह गुणातीत कहलाता है]।
२३. [त्या व्यक्तीचे आचरण कसे असते ते सांगतो,] जी उदासीनासारखी राहून उपरोक्त त्रिगुणांच्या कार्यांनी विचलित होत नाही आणि ‘सर्व गुण तिच्या मन व शरीरात आपापले कार्य करत आहेत, वास्तवात आत्म्याचा गुणांशी कोणताही संबंध नाही’—या विचारात जी स्थिर राहते आणि गुणांच्या कार्यात लिप्त होत नाही, [ती व्यक्ती गुणातीत म्हटली जाते].
२३। [त्या व्यक्तीचे आचरण कसे असते ते सांगतो.] जी उदासीनाप्रमाणे राहते, उपरोक्त त्रिगुणांच्या कार्यांनी विचलित होत नाही, आणि ‘गुण आपल्या मन व शरीरात कार्य करीत असले तरी आत्म्याचा गुणांशी काहीही संबंध नाही’—या विचारात स्थिर राहते, तसेच गुणांच्या कार्यात लिप्त होत नाही—तीच व्यक्ती ‘गुणातीत’ म्हणून ओळखली जाते.

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥24॥
24। जिसके लिए सुख व दुःख एक समान हैं, जो आत्मधर्म में निष्ठ होने के कारण मिट्टी, पत्थर और सोना सबको एकसम देखता है, जिसके लिए प्रिय अथवा अप्रिय में भेद नहीं है तथा जो निन्दा व प्रशंसा को समान समझता है, [वह गुणातीत कहलाता है]।
२४। ज्या व्यक्तीसाठी सुख-दुःख समान आहेत, जी आत्मधर्मात निष्ठ असल्यामुळे माती, दगड आणि सोने यांना एकसमान पाहते, जिच्यासाठी प्रिय-अप्रिय यांत भेद नाही आणि जी निंदा-प्रशंसा यांना समान मानते—तीच व्यक्ती ‘गुणातीत’ म्हणून ओळखली जाते.

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥25॥
25। जिसके लिए मान-अपमान, मित्र-पक्ष व शत्रु-पक्ष दोनों ही समान हैं एवं जिसने आसक्ति और वैराग्य के सारे

अनुष्ठानों को त्याग दिया है (अर्थात् जो केवल भगवद् भक्ति-निर्वाह का अनुष्ठान मात्र करता है), वह गुणातीत कहलाता है।
२५। ज्या व्यक्तीसाठी मान-अपमान, मित्रपक्ष आणि शत्रुपक्ष दोन्ही समान आहेत, आणि जिने आसक्ती व वैराग्य यांच्या सर्व अनुष्ठानांचा त्याग केला आहे (म्हणजे जी केवळ भगवद्भक्तीच्या निर्वाहाचे अनुष्ठान करते), तीच व्यक्ती ‘गुणातीत’ म्हणून ओळखली जाते.
२५। ज्या व्यक्तीसाठी मान-अपमान, मित्रपक्ष आणि शत्रुपक्ष दोन्ही समान आहेत, आणि जिने आसक्ती व वैराग्य यांच्या सर्व अनुष्ठानांचा त्याग केला आहे (म्हणजे जी केवळ भगवद्भक्तीचे पालन करते), तीच व्यक्ती ‘गुणातीत’ म्हणून ओळखली जाते.

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥26॥

26। [अब गुणातीत होने का उपाय बता रहा हूँ,] जो अव्यभिचारि- भक्तियोग (अर्थात् ज्ञान-कर्म के मिश्रणहीन, अनन्य भक्ति) के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह इन सब गुणों को लाँघकर ब्रह्म को अनुभव करने में समर्थ हो जाता है।
२६. [आता गुणातीत होण्याचा उपाय सांगतो,] जी व्यक्ती अव्यभिचारी भक्तियोगाद्वारे (ज्ञान-कर्माच्या मिश्रणाशिवाय केलेल्या अनन्य भक्तिद्वारे) माझी सेवा करते, ती या सर्व गुणांना ओलांडून ब्रह्मानुभव घेण्यास समर्थ होते.

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥27॥
इति ‘त्रिगुणविभागयोगो’ नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥
27। [उस ब्रह्म का अनुभव कैसा है, उस विषय में सुनो,] मैं ही ब्रह्म की प्रतिष्ठा या आश्रय हूँ, मैं ही अव्यय मोक्ष का आश्रय हूँ, मैं ही नित्यधर्म रूपी प्रेम तथा ऐकान्तिक सुख-रूपी व्रजरस का आश्रय हूँ [इस प्रकार भक्त मुझ परब्रह्म को ही अव्यभिचारि-भक्तियोग के द्वारा अनुभव तथा प्राप्त करते हैं]।
इति चतुर्दश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
२७. [त्या ब्रह्माचा अनुभव कसा आहे ते ऐक.] मीच ब्रह्माची प्रतिष्ठा किंवा आश्रय आहे, मीच अव्यय मोक्षाचा आश्रय आहे, मीच नित्यधर्मरूपी प्रेम आणि ऐकान्तिक सुखरूपी व्रजरसाचा आश्रय आहे [अशा प्रकारे भक्त मज परब्रह्माचाच अव्यभिचारी भक्तियोगाद्वारे अनुभव घेतात आणि मज परब्रह्मालाच प्राप्त करतात].
इति चतुर्दश (चौदाव्या) अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.
२७। [त्या ब्रह्माचा अनुभव कसा आहे ते ऐक.] मीच ब्रह्माची प्रतिष्ठा किंवा आश्रय आहे. मीच अव्यय मोक्षाचा आधार आहे. मीच नित्यधर्मरूपी प्रेम आणि ऐकान्तिक सुखरूपी व्रजरसाचा आश्रय आहे. [अशा प्रकारे भक्त अव्यभिचारी भक्तियोगाने माझा अर्थात परब्रह्माचा अनुभव घेतात व प्राप्ती करतात.]
इति चतुर्दश (चौदाव्या) अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.

पञ्चदशोऽध्यायः
पुरुषोत्तमयोगः
श्रीभगवानुवाच—
ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥1॥
1। श्रीभगवान् ने कहा, यह संसार मानो एक अश्वत्थ (1) वृक्ष स्वरूप है—जिसकी जड़ ऊपर की ओर है (अर्थात् सभी लोकों के ऊपर स्थित सत्यलोक में प्रकृति रूपी बीज से महत्- तत्त्व रूपी जड़) और शाखाएँ नीचे की ओर हैं (अर्थात् सत्यलोक से नीचे की ओर स्वर्गलोक, भुवर्लोक, भूलोक आदि में व्याप्त शाखाएँ) और यह शाश्वत है (अर्थात् कर्म के आश्रित व्यक्ति के लिए इसका नाश नहीं है); कर्म का प्रतिपादन करने वाले वेद-वाक्य इस वृक्ष के पत्ते कहे गए हैं; जो इस वृक्ष के तत्त्व को जानता है, वह वेदों का ज्ञाता है।
१। श्रीभगवान म्हणाले—हा संसार जणू एक अश्वत्थ (1) वृक्ष आहे. त्याची मुळे वरच्या दिशेला आहेत. म्हणजे सर्व लोकांच्या वर स्थित असलेल्या सत्यलोकात प्रकृतीरूपी बीजापासून महत्तत्त्वरूपी मुळे उत्पन्न झाली आहेत. त्याच्या शाखा खाली पसरलेल्या आहेत. अर्थात सत्यलोकापासून खाली स्वर्गलोक, भुवर्लोक, भूलोक इत्यादींमध्ये त्याच्या शाखा व्याप्त आहेत. हा वृक्ष शाश्वत आहे. कर्माचा आश्रय घेणाऱ्या व्यक्तीसाठी याचा नाश नाही. कर्माचे प्रतिपादन करणारी वेदवाक्ये या वृक्षाची पाने मानली जातात. जी व्यक्ती या वृक्षाचे तत्त्व जाणते, ती वेदांचा ज्ञाता आहे.

<1> अश्वत्थ—‘न श्वः स्थास्यति’ अर्थात् आने वाले कल में यह नहीं रहेगा। <१> अश्वत्थ—‘न श्वः स्थास्यति’ म्हणजे उद्या हा वृक्ष राहणार नाही.

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा, गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः। अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि, कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥2॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते

नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
2। इस संसार-वृक्ष की कुछ शाखाएँ अधः-मुखी (मृत्युलोक आदि निम्न लोकों की ओर फैली हुई) तथा कुछ शाखाएँ ऊर्द्धव-गामी (देवता आदि उच्च लोकों की ओर फैली हुई) हैं। ये सभी शाखाएँ प्रकृति के तीनों गुणों से पोषित हो रही हैं एवं जड़ीय विषय-रूपी पत्तों से युक्त हैं। और फिर इस वृक्ष से कर्मवासना-रूपी [जटा समान] जड़ें निम्न मनुष्यलोक में फैली हुई हैं [इसीलिए मनुष्य लोक ‘कर्मभूमि’ के रूप में प्रसिद्ध है]।
२। या संसारवृक्षाच्या काही शाखा (फांद्या) अधोमुखी आहेत (मृत्युलोक व इतर निम्न अर्थात खालील लोकांकडे पसरलेल्या), तर काही शाखा ऊर्ध्वगामी आहेत (अर्थात देवता व उच्च लोकांकडे पसरलेल्या आहेत). या सर्व शाखा प्रकृतीच्या तीन गुणांनी पोषित होत आहेत आणि जड विषयरूपी पानांनी युक्त आहेत. तसेच या वृक्षाची कर्मवासना-रूपी [जटा समान] मुळे मानवलोकात पसरलेली आहेत. म्हणूनच मानवलोक ‘कर्मभूमी’ म्हणून प्रसिद्ध आहे.

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥3॥
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥4॥
3-4। इस संसार-वृक्ष का यह असली रूप, इस जगत में रहकर [अपने आप] दिखाई नहीं देता। इसके आदि, अन्त तथा आधार का भी कुछ पता नहीं चलता। [साधुसंग के द्वारा इस संसार-वृक्ष का तत्त्व समझकर] स्थिर अनासक्ति की कुठार से गहरी जड़ों वाले इस अश्वत्थ वृक्ष को काटना होगा। फिर ऐसे परम धाम को खोजना होगा जहाँ पहुँचकर पुनः संसार में नहीं लौटना पड़ता। और जिनसे यह अनादि संसार-प्रवाह प्रसारित है उन आदि पुरुष के शरणागत होकर संसार के मूल परमपद श्रीविष्णु की खोज करनी होगी।
३–४। या संसारवृक्षाचे खरे रूप या जगात राहून स्वतः दिसत नाही. त्याचा आदि, अंत आणि आधार यांचा काहीही ठाव लागत नाही. [साधुसंगतीने या संसारवृक्षाचे तत्त्व समजून] स्थिर

अनासक्तीच्या कुऱ्हाडीने खोल मुळांचा हा अश्वत्थ वृक्ष छाटावा लागतो. त्यानंतर असे परमधाम शोधावे लागते, जिथे पोहोचल्यावर पुन्हा संसारात परत यावे लागत नाही. आणि ज्यांच्यापासून हा अनादि संसारप्रवाह प्रसारित झाला आहे त्या आदिपुरुषाच्या शरणागत होऊन संसाराच्या मूळ परमपद श्रीविष्णूंचा शोध घ्यायला हवा.

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै- र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥5॥
5। [उस शरणागति का सहारा लेने वाला व्यक्ति किन लक्षणों से युक्त होकर उस परमतत्त्व को प्राप्त करता है, वह सुनो,] जिनका मान और मोह (मिथ्या अभिनिवेश) मिट गया है, जिन्होंने आसक्ति रूपी दोष को जीत लिया है, जो सदा नित्य-अनित्य का विचार करते हैं, जिनकी समस्त भोग-वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं, जो सुख-दुःख के द्वन्द्वों (जैसे सर्दी-गर्मी, मान-अपमान आदि) से छूटे हुए हैं, ऐसे विमुक्त तथा मूढ़ता (माया-मुग्धता)-रहित पुरुषगण उस परम धाम को प्राप्त कर सकते हैं।
५। [त्या शरणागतीचा आधार घेणारा पुरुष कोणत्या लक्षणांनी युक्त होऊन परम तत्त्वाला प्राप्त होतो ते ऐक.] ज्यांचा मान आणि मोह (मिथ्या अभिनिवेश) नष्ट झाला आहे, ज्यांनी आसक्तीचा दोष जिंकला आहे, जे नेहमी नित्य-अनित्य यांचा विचार करतात, ज्यांच्या सर्व भोगवासनांचा नाश झाला आहे, जे सुख-दुःखाच्या द्वंद्वांपासून (जसे थंडी-उष्णता, मान-अपमान इत्यादीपासून) मुक्त झाले आहेत—असे विमुक्त आणि मूढतारहित (माया-मोहापासून रहित) पुरुष परमधामाला प्राप्त होतात.

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥6॥

6। [वह परम पद या धाम कैसा है, वह सुनो,] जहाँ पहुँचकर शरणागत व्यक्तियों को पुनः संसार में लौटना नहीं होता, वही मेरा परम (षड़-ऐश्वर्यपूर्ण) ‘धाम’ है। [ब्रह्माण्ड के अतीत होने के कारण] उसे न सूर्य, न चन्द्र और न ही अग्नि प्रकाशित करते हैं।
६। [ते परमपद किंवा धाम कसे आहे ते ऐक.] जिथे पोहोचल्यावर शरणागत व्यक्ती पुन्हा संसारात परत येत नाहीत, तेच माझे परम (षडैश्वर्यपूर्ण) धाम आहे. [ब्रह्मांडाच्या पलीकडे असल्यामुळे] त्याला सूर्य, चंद्र किंवा अग्नी प्रकाशित करीत नाहीत.

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥7॥
7। [इस अवस्था में जीवों की संसार-दशा कैसे होती है, वह बता रहा हूँ,] यह जीव मेरा ही सनातन विभिन्न अंश है। बद्ध जीवन के कारण ये मन सहित आँख-कान आदि छहों इन्द्रियों से घोर संघर्ष कर रहा है।
७. [या अवस्थेत जीवांची संसार-दशा कशी होते, ते सांगत आहे,] हा जीव माझाच सनातन विभिन्न अंश आहे. बद्ध जीवनामुळे तो मनासहित डोळे-कान इत्यादी सहा इंद्रियांशी घोर संघर्ष करत आहे.

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥8॥

8। देह का स्वामी जीव, जब नया शरीर प्राप्त करता है और
जब शरीर को त्यागता है, तब मन सहित समस्त इन्द्रियों को वैसे ही साथ लेकर गमन करता है, जैसे किसी पुष्प आदि से वायु गन्ध को ले जाती है।
८. देहाचा स्वामी जीव, जेव्हा नवीन शरीर प्राप्त करतो आणि जेव्हा शरीराचा त्याग करतो, तेव्हा मनासहित समस्त इंद्रियांना तसाच बरोबर घेऊन जातो, जसे एखाद्या फुलापासून वायू सुगंध घेऊन जातो.
8। देहाचा स्वामी जीव, जेव्हा नवीन शरीर धारण करतो आणि जेव्हा जुन्या शरीराचा त्याग करतो, तेव्हा मन आणि समस्त इंद्रियांना आपल्यासोबत तशाच प्रकारे घेऊन जातो, ज्याप्रमाणे वायू फुलांमधून त्यांचा सुगंध सोबत घेऊन जातो.

श्रोत्रञ्चक्षुः स्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥9॥
9। यह जीव—आँख, कान, नाक, जिहा, त्वचा तथा मन का आश्रय करके ही समस्त रूप-रस आदि विषयों का उपभोग करता है।
९. हा जीव—डोळे, कान, नाक, जीभ, त्वचा तथा मनाचा आश्रय
घेऊनच समस्त रूप, रस इत्यादी विषयांचा उपभोग घेतो.

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥10॥

10। जीवात्मा जिस प्रकार देह त्यागकर जाता है या देह में रहता है अथवा गुणों से युक्त होकर विषय भोग करता है उसको मूर्ख लोग नहीं जान पाते, किन्तु जिनके ज्ञान-नेत्र हैं, वे ही ये सब देख पाते हैं।
१०. जीवात्मा ज्या प्रकारे देहाचा त्याग करून जातो किंवा या देहात राहतो अथवा गुणांनी युक्त होऊन विषयांचा भोग घेतो, ते मूर्ख लोक जाणू शकत नाहीत; परंतु ज्यांचे ज्ञान-नेत्र आहेत, तेच हे सर्व पाहू शकतात.

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्। यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥11॥
11। यथार्थ यत्न करने वाले योगी अपने शरीर में रहने वाली इस आत्मा को देख पाते हैं, किन्तु अशुद्ध अन्तःकरण वाले योगी चित्-तत्त्व - ज्ञान के अभाव के कारण, यत्न करके भी उसे नहीं पहचान सकते।
११. यथार्थ प्रयत्न करणारे योगी आपल्या शरीरात राहणाऱ्या या आत्म्याला पाहू शकतात, परंतु अशुद्ध अंतःकरण असलेले योगी चित्-तत्त्वाच्या ज्ञानाच्या अभावामुळे, प्रयत्न करूनही त्याला ओळखू शकत नाहीत.

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥12॥
12। [तथापि संसार में फँसे जीवों के लिए चित् वस्तु की चर्चा कैसे संभव है, सुनो,] सूर्य में स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्र और अग्नि में विराजमान है, उसे मेरा ही तेज समझो।
१२. [तथापि संसारात अडकलेल्या जीवांसाठी चित् वस्तूची चर्चा कशी शक्य आहे, ते ऐक,] सूर्यात स्थित असलेले जे तेज संपूर्ण जगाला प्रकाशित करते आणि जे तेज चंद्र आणि अग्नीत विराजमान आहे, ते माझेच तेज समज.

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥13॥
13। पृथ्वी में अधिष्ठित होकर मैं ही अपनी शक्ति से समस्त प्राणी-कुल को धारण करता हूँ, और फिर रसमय चन्द्र-रूप में समस्त औषधियों का पोषण करता हूँ।

१३. पृथ्वीमध्ये अधिष्ठित होऊन मीच आपल्या शक्तीने समस्त प्राणीसमुदायाला धारण करतो, आणि पुन्हा रसमय चंद्र-रूपाने समस्त औषधींचे पोषण करतो.

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥14॥

14। मैं सब प्राणियों के शरीर में जठरस्थ ‘वैश्वानर’- नामक अग्नि (जठराग्नि) के रूप में रहता हूँ और ‘प्राण’ तथा ‘अपान’ वायु के संयोग से चार प्रकार के अन्न—चर्व्य (चबाये जाने वाले पदार्थ), चोष्य (चूसे जाने वाले पदार्थ), लेह्य (चाटे जाने वाले पदार्थ) तथा पेय (निगले जाने वाले पदार्थ) को पचाता हूँ।
१४> मी सर्व प्राण्यांच्या शरीरात जठरस्थ ‘वैश्वानर’- नामक अग्नी (जठराग्नी) च्या रूपाने राहतो आणि ‘प्राण’ व ‘अपान’ वायूच्या संयोगाने चार प्रकारचे अन्न—चर्व्य (चावून खाल्ले जाणारे पदार्थ), चोष्य (चोखून घेतले जाणारे पदार्थ), लेह्य (चाटून खाल्ले जाणारे पदार्थ) तथा पेय (प्यायले जाणारे पदार्थ) पचवतो.
१४। मी सर्व प्राण्यांच्या शरीरात जठरस्थ ‘वैश्वानर’ नावाच्या अग्निरूपाने (जठराग्निरूपाने) वास करतो. ‘प्राण’ आणि ‘अपान’ वायूंच्या संयोगाने मी चार प्रकारचे अन्न— चर्व्य (चावून खायचे पदार्थ), चोष्य (चोखायचे पदार्थ), लेह्य (चाटायचे पदार्थ) आणि पेय (पिण्याचे पदार्थ)—यांचे पचन करतो.

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो, मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥15॥

15। [और फिर] मैं ही चराचर समस्त प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ। मुझसे ही जीवों की स्मृति तथा ज्ञान का उदय होता है एवं मुझसे ही स्मृति तथा ज्ञान का नाश होता है; मैं ही समस्त वेदों का वेद्य हूँ (अर्थात् समस्त वेद मेरे संबंध में ही कीर्तन करते हैं), मैं ही वेदान्त का कर्त्ता (अर्थात् वेदव्यास के रूप में वेदों का अर्थ-निर्णायक) एवं वेदज्ञ (वेदों के तात्पर्य का ज्ञाता) हूँ।
१५. [आणि पुन्हा] मीच चराचर समस्त प्राण्यांच्या हृदयात अंतर्यामी रूपाने स्थित आहे. माझ्यापासूनच जीवांची स्मृती व ज्ञान उदय पावते आणि माझ्यापासूनच स्मृती व ज्ञानाचा नाश होतो; मीच समस्त वेदांचा वेद्य आहे (अर्थात समस्त वेद माझ्यासंबंधीच कीर्तन करतात), मीच वेदान्ताचा कर्ता (अर्थात वेदव्यास रूपाने वेदांचा अर्थ-निर्णायक) आणि वेदज्ञ (वेदांच्या तात्पर्याचा ज्ञाता) आहे.

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥16॥

16। [अतः संक्षेप में सभी वेदों का सार कह रहा हूँ,] इस जगत में दो प्रकार के पुरुष-तत्त्व विराजमान हैं—क्षर (नाशवान्) एवं अक्षर (अविनाशी); उनमें ब्रह्मा से लेकर तृण तक समस्त प्राणी ‘क्षर’ (अर्थात् अपने स्वरूप से क्षरित या विच्युत होने योग्य) हैं, और जो अन्य पुरुषतत्त्व—‘कूटस्थ’ (अर्थात् एक ही अविच्युत स्वरूप में सब समय अवस्थित) हैं, उन्हें ‘अक्षर’ कहा जाता है।
१६. [म्हणून आता संक्षेपाने सर्व वेदांचे सार सांगत आहे,] या जगात दोन प्रकारची पुरुष-तत्त्वे विराजमान आहेत — ‘क्षर’ (नाशवान) आणि ‘अक्षर’ (अविनाशी); त्यांपैकी ब्रह्मदेवांपासून तृणापर्यंत (गवतापर्यंत) समस्त प्राणी ‘क्षर’ (अर्थात आपल्या स्वरूपापासून क्षरित किंवा विच्युत होण्यास योग्य) आहेत, आणि जे अन्य पुरुषतत्त्व—‘कूटस्थ’ (अर्थात एकाच अविच्युत स्वरूपात सर्वकाळ स्थित असणारे) आहेत, त्यांना ‘अक्षर’ म्हटले जाते.
१६। [म्हणून आता संक्षेपाने सर्व वेदांचा सार सांगतो.]
या जगात दोन प्रकारचे पुरुषतत्त्व आहेत—‘क्षर’ (नाशवान) आणि ‘अक्षर’ (अविनाशी). त्यांपैकी ब्रह्मदेवांपासून तृणापर्यंत (गवतापर्यंत) सर्व प्राणी ‘क्षर’ आहेत (म्हणजे आपल्या स्वरूपापासून विच्युत होणारे आहेत). आणि जे दुसरे पुरुषतत्त्व—‘कूटस्थ’ (म्हणजे एकाच अविच्युत स्वरूपात सदैव स्थित असणारे), त्यांना ‘अक्षर’ म्हणतात.

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥17॥

17। किन्तु उक्त क्षर तथा अक्षर, दोनों से जो उत्तम (विलक्षण) हैं, उन्हें ‘परमात्मा’ कहते हैं। वे ‘ईश्वर’ (नियामक)-रूप में तथा ‘अव्यय’ (निर्विकार)-भाव से तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सबका पालन कर रहे हैं।
१७। परंतु ‘क्षर’ आणि ‘अक्षर’ या दोन्हींपेक्षा जो उत्तम (विलक्षण) आहे, त्याला ‘परमात्मा’ म्हणतात. तो ‘ईश्वर’ (नियामक) रूपाने आणि ‘अव्यय’ (निर्विकार) भावाने तीनही लोकांत प्रवेश करून सर्वांचे पालन करतो.

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥18॥
18। क्योंकि मैं ‘क्षर'-तत्त्व से परे और ‘अक्षर'-तत्त्व
से भी श्रेष्ठ हूँ, इसीलिए जगत तथा वेद आदि शास्त्रों में ‘पुरुषोत्तम’ नाम से प्रसिद्ध हूँ।
१८। कारण मी ‘क्षर’ तत्त्वापलीकडे असून ‘अक्षर’ तत्त्वापेक्षाही श्रेष्ठ आहे. म्हणूनच मी जगात आणि वेद-शास्त्रांमध्ये ‘पुरुषोत्तम’ या नावाने प्रसिद्ध आहे.

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥19॥
19। हे भारत! [जगत में विभिन्न मतवाद रहने पर भी जो उनके द्वारा] किसी प्रकार से भी मोहित न होकर मुझे ही ‘पुरुषोत्तम’ के रूप में जानते हैं, वे सर्वज्ञ हैं एवं सभी प्रकार से मेरा ही भजन करते हैं।
19> हे भारत! [जगात विविध मतवाद असूनही ज्यांच्याद्वारे] कोणत्याही प्रकारे मोहित न होता मलाच ‘पुरुषोत्तम’ या रूपात जे जाणतात, ते सर्वज्ञ आहेत आणि ते सर्व प्रकारे माझेच भजन करतात.

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥20॥
इति ‘पुरुषोत्तमयोगो’ नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥
20। हे निष्पाप! [क्योंकि तुम निष्पाप हो इसलिए] इस अति रहस्यमय शास्त्र-तात्पर्य को मैंने तुम्हें बताया है।
हे भारत! इसे जानकर जीव शुद्ध-बुद्धि युक्त और कृतार्थ हो जाते हैं।

20> हे निष्पाप अर्जुन! [कारण तू निष्पाप आहेस म्हणून]
हे अत्यंत रहस्यमय शास्त्राचे तात्पर्य मी तुला सांगितले आहे. हे भारत! हे जाणून जीव शुद्ध बुद्धीने युक्त आणि कृतार्थ होतात.
इति पञ्चदश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
इति पञ्चदश (पंधराव्या) अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.

षोडशोऽध्यायः
दैवासुर-सम्पद्-विभाग-योगः श्रीभगवानुवाच—
अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥1॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं हीरचापलम्॥2।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥3॥
1–3। श्रीभगवान् ने कहा, [पूर्व वर्णित संसार-वृक्ष के
दो प्रकार के फलों में से प्रथमतः संसार-मोचक फल की बात कह रहा हूँ,] हे भारत! दैवी सम्पत्ति लेकर जन्मे व्यक्ति के ये गुण होते हैं—निडरता, शुद्ध सात्त्विक वृत्ति (चित्त की निर्मलता), आत्म-ज्ञान में दृढ़-निष्ठा, दान, दम (बाह्य इन्द्रियों का संयम), यज्ञ, वेदपाठ, तपस्या, आर्जव (सरलता), अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, त्याग (सांसारिक वस्तुओं में ममता का त्याग), शान्ति (मन का संयम), अपैशुन (परनिन्दा न करना), सभी प्राणियों के प्रति दया, लोभ का अभाव, मृदुता, असत् कर्म में लज्जा, अचपलता (व्यर्थ चेष्टाएँ न करना), तेज, क्षमा (सहनशीलता), धैर्य, शुद्धता (बाहर और अन्दर की शुद्धि), द्वेषहीनता तथा अभिमान-शून्यता।
1–3। श्रीभगवान म्हणाले, [पूर्वी वर्णन केलेल्या संसार-वृक्षाच्या दोन प्रकारच्या फळांपैकी प्रथम संसारातून मुक्त करणाऱ्या फळाविषयी सांगत आहे,] हे भारत! दैवी संपत्ती घेऊन जन्मलेल्या व्यक्तीचे हे गुण असतात— निर्भयता, शुद्ध सात्त्विक वृत्ती (चित्ताची निर्मलता), आत्म-ज्ञानात दृढ-निष्ठा, दान, दम (बाह्य इंद्रियांचा संयम), यज्ञ, वेदपाठ, तपश्चर्या, आर्जव (सरळपणा), अहिंसा, सत्य, अक्रोध (क्रोध न करणे), त्याग (सांसारिक वस्तूंमधील ममत्वाचा त्याग), शांती (मनाचा संयम), अपैशुन्य (परनिंदा न करणे), सर्व प्राणिमात्रांविषयी दया, लोभरहितता, मृदुता, असत् कर्माबद्दल लज्जा, अचपलता (व्यर्थ कृती न करणे), तेज, क्षमा (सहनशीलता), धैर्य, शुद्धता (बाह्य व आंतरिक शुद्धी), द्वेषहीनता तसेच अभिमानशून्यता.

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥4॥
4। [अब द्वितीयतः संसार में बाँधने वाले हेय फल के विषय में सुनो,] हे पार्थ! अशुभ क्षणों में जन्मे आसुरी सम्पद् वाले व्यक्ति के ये लक्षण हैं—दम्भ (ख्याति प्राप्ति के लिए धर्म का अनुष्ठान करना), दर्प (धन, विद्या और कुल का गर्व), अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान (कार्य-अकार्य की विवेक-शून्यता)।
4> [आता दुसऱ्या म्हणजेच संसारात बांधून ठेवणाऱ्या त्याज्य फलाविषयी ऐक,] हे पार्थ! अशुभ क्षणी जन्मलेल्या आसुरी संपदा असलेल्या व्यक्तीची ही लक्षणे आहेत—दंभ (ख्याती किंवा कीर्ती मिळवण्यासाठी धर्माचे अनुष्ठान करणे), दर्प (धन, विद्या आणि कुळाचा गर्व), अभिमान, क्रोध, निष्ठुरपणा आणि अज्ञान (कार्य-अकार्याबद्दल विवेकशून्यता, कृती-अकृती यांचा विवेक न राहणे).

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता। मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥5॥

5। दैवी सम्पदा मुक्ति देने वाली और आसुरी सम्पदा बंधन में डालने वाली मानी गई है। हे पाण्डव! तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम्हें दैवी सम्पदा प्राप्त हुई है, [धर्मयुद्ध में क्षत्रियों की निष्ठुरता आदि आसुरी सम्पदा नहीं है]। 5> दैवी संपदा मुक्ती देणारी आणि आसुरी संपदा बंधनात टाकणारी मानली गेली आहे. हे पांडव! तू शोक करू नकोस, कारण तुला दैवी संपदा प्राप्त झाली आहे, [धर्मयुद्धातील क्षत्रियांची निष्ठुरता इत्यादी आसुरी संपदा नव्हे].

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥6॥
6। हे पार्थ! इस जगत में दैवी तथा आसुरी दो प्रकार के जीवों की सृष्टि होती है। दैवी सम्पदा का वर्णन विस्तार से कर दिया है, अब आसुरी सम्पदा के संबंध में विस्तार से सुनो। 6> हे पार्थ! या जगात दैवी तसेच आसुरी अशा दोन प्रकारच्या जीवांची सृष्टी (निर्मिती) होते. दैवी संपदेचे वर्णन विस्ताराने केले आहे, आता आसुरी संपदेबद्दल विस्ताराने ऐक.

प्रवृत्तिञ्च निवृतिञ्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥7॥
7। असुर-स्वभाव वाले व्यक्ति धर्म में प्रवृत्ति (रुचि) तथा अधर्म से निवृत्ति का भेद नहीं जानते (अर्थात् कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को नहीं समझते); अतः उनमें न शुद्धता रहती है, न सदाचार और न सत्य ही।
7> असुर-स्वभावाचे लोक धर्मामध्ये प्रवृत्ती (रुची) व अधर्मापासून निवृत्ती यातील भेद जाणत नाहीत (अर्थात कर्तव्य आणि अकर्तव्य समजत नाहीत); म्हणून त्यांच्यामध्ये ना शुद्धता राहते, ना सदाचार आणि ना सत्यच.

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहेतुकम्॥8॥
8। वे कहते हैं कि, यह जगत मिथ्या है, ‘अप्रतिष्ठ’ (आकाशपुष्प की तरह इसका कोई आधार नहीं) है, ‘अनीश्वर’ (किसी ईश्वर द्वारा सृष्ट नहीं) है, ‘अपरस्पर-सम्भूत’ (यह किसी पुरुष तथा प्रकृति के प्रयास से नहीं, अपने आप ही उत्पन्न

हुआ) है; तथा इतना ही नहीं—कोई-कोई तो ऐसा कहते हैं कि, जगत् ‘काममूलक’ (काम अर्थात् स्वेच्छा ही इसका कारण) है।
8> ते म्हणतात की, हे जग मिथ्या आहे, ‘अप्रतिष्ठ’ (आकाशपुष्पासारखे याला कोणताही आधार नाही) आहे, ‘अनीश्वर’ (कोणत्याही ईश्वराने निर्माण केलेले नाही) आहे, ‘अपरस्पर-सम्भूत’ (हे कोणत्याही पुरुष व प्रकृतीच्या प्रयत्नाने नव्हे, आपोआपच उत्पन्न झाले) आहे; आणि एवढेच नाही—कोणी- कोणी तर असे म्हणतात की, जग ‘काममूलक’ आहे (काम म्हणजे स्वेच्छाच जगाचे कारण आहे).

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः। प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥9॥
9। इस [नास्तिक्य] दर्शन अर्थात् सिद्धान्त को अवलम्बन करके वे सब आत्म-तत्त्वहीन, मन्द-बुद्धि और उग्रकर्मा (हिंसक कर्म करने वाले), अमंगल- स्वरूप असुरगण जगत का नाश करने के लिए ही जन्म लिया करते हैं।
9> या [नास्तिक] दर्शनाचा म्हणजेच सिद्धांताचा आश्रय घेऊन, ते सर्व आत्म-तत्त्वहीन, मतिमंद आणि उग्रकर्मा (हिंसक कृत्ये करणारे), अमंगल-स्वरूप असुर जगाचा नाश करण्यासाठीच जन्म घेत असतात.
9> या [नास्तिक] दर्शनाचा अर्थात् सिद्धान्ताचा अवलंब करून ते सर्व आत्म-तत्त्वहीन, मंद-बुद्धी आणि उग्रकर्मा (हिंसक कर्म करणारे), अमंगलस्वरूप असुरगण जगाचा नाश करण्यासाठीच जन्म घेत असतात.

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः॥
10॥
10। कभी तृप्त न होने वाले काम के सहारे वे दम्भ, अभिमान और मद में उन्मत्त होते हैं और मोहवश असत् विषयों में आग्रही होकर भ्रष्ट आचरणों के द्वारा तुच्छ देवताओं की आराधना में लगे रहते हैं।
10> कधीही तृप्त न होणाऱ्या कामवासनेचा आश्रय घेऊन ते दंभ, अभिमान आणि मदाने उन्मत्त होतात आणि मोहामुळे असत् विषयांमध्ये आग्रही होऊन भ्रष्ट आचरणांद्वारे तुच्छ देवतांच्या आराधनेत गुंतून राहतात.

चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥11॥
11। ‘काम का उपभोग ही चरम लक्ष्य है’—वे इस प्रकार निश्चय करके मृत्यु तक उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही अनगिनत चिंताओं का आश्रय करते रहते हैं।
11> ‘कामोपभोग हेच अंतिम ध्येय आहे’—असा निश्चय करून
ते मृत्यूपर्यंत त्या ध्येयाच्या प्राप्तीसाठीच असंख्य चिंतांचा आश्रय घेत राहतात.
11> “विषयभोगांचा उपभोग घेणे हेच जीवनाचे अंतिम ध्येय आहे”—असा निश्चय करून, ते मृत्यूपर्यंत त्या ध्येयाच्या प्राप्तीसाठी अगणित चिंतांचा आश्रय घेत राहतात.

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थन्यायेनार्थसञ्चयान्॥12॥
12। काम-क्रोध के शिकार वे व्यक्ति सैंकड़ों आशाओं के जाल में बुरी तरह जकड़कर भोग-वासना के लिए अन्याय से धन बटोरने की चेष्टा करते हैं।
12। काम-क्रोधाला बळी पडलेले ते लोक शेकडो आशांच्या जाळ्यात पूर्णपणे अडकून भोग-वासनेसाठी अन्यायाने धन गोळा करण्याचा प्रयत्न करतात.
12। काम आणि क्रोधाच्या आहारी गेलेले ते लोक, शेकडो आशांच्या जाळ्यात पूर्णपणे अडकून, केवळ विषयभोगांच्या तृप्तीसाठी अन्यायाने धन साठवण्याचा प्रयत्न करतात.

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥13॥
13। वे ऐसा सोचते हैं कि ‘आज मुझे यह प्राप्त हुआ, कल मैं वह मनोरथ भी पूर्ण कर लूँगा; अभी इतना धन मेरे पास है, आगे वह और भी मेरा हो जायगा’।
१३। ते असा विचार करतात की, “आज मला हे प्राप्त झाले आहे, उद्या मी ती इच्छादेखील पूर्ण करून घेईन; आता इतकी संपत्ती माझ्याकडे आहे आणि भविष्यात माझे वैभव आणखी वाढेल”.
१३। ते असा विचार करतात—‘आज मला हे मिळाले आहे, उद्या
मी ते मनोरथही पूर्ण करीन; आत्ता माझ्याकडे इतके धन आहे,

पुढे आणखी अधिक धन मी प्राप्त करीन.’

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥14॥
14। ‘इस शत्रु को आज मैंने मार लिया, बाकी सब का भी शीघ्र विनाश करूँगा; मैं ईश्वर (प्रभु) हूँ, भोक्ता हूँ (अर्थात् मैंने समस्त भोगों को अपने अधीन कर लिया है), सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ और सुखी हूँ’।
१४। “आज मी या शत्रूचा वध केला आहे; उरलेल्या सर्वांचादेखील मी लवकरच संहार करीन. मीच ईश्वर (प्रभू) आहे, भोक्ता आहे (म्हणजे सर्व प्रकारचे भोग माझ्या अधीन आहेत), मी सिद्ध आहे, बलवान आहे आणि सुखी आहे.”

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥15॥
15। ‘मैं धनी हूँ, कुलीन हूँ, मेरे समान और कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा’—इस प्रकार के अज्ञान से वे मोहित रहते हैं।
१५। “मी धनवान आहे, कुलीन (घरंदाज किंवा चांगल्या वंशात जन्मलेला) आहे; माझ्यासारखा दुसरा कोण? मी यज्ञ करीन, दान देईन, मौज करीन”—अशा अज्ञानामुळे ते मोहित राहतात.

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥16॥

16। वे [सैंकड़ों आशाओं में फँसे होने के कारण] अनेक कल्पनाओं से भ्रमित, मोह जाल में जकड़े और विषय भोगों में आसक्त होते हैं, इसलिए जघन्य नरकों में पतित होते हैं।
१६। ते सर्व [शेकडो आशांमध्ये अडकले असल्याने] अनेक कल्पनांनी भ्रमित, मोहाच्या जाळ्यात जखडलेले आणि विषयभोगांमध्ये आसक्त झालेले असतात. याच कारणांस्तव हे लोक शेवटी जघन्य नरकांत पतित होतात.

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥17॥
17। अपने आप को ही श्रेष्ठ मानने वाले, अनम्र, धन और यश
के मद में चूर लोग, शास्त्र विधि को छोड़कर नाममात्र के लिए बड़े ही गर्व के साथ यज्ञ करते हैं।
१७। जे स्वतःलाच श्रेष्ठ मानतात, नम्र नसतात, धन आणि यशाच्या मदाने गर्विष्ठ झालेले असतात, ते शास्त्रविधी बाजूला ठेवून केवळ नावापुरते मोठ्या गर्वाने यज्ञ करतात.

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः। मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥18॥
18। अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध के आश्रित होकर वे साधु- सज्जन वृन्द के गुणों की निन्दा करते हैं और इस प्रकार अपने एवं दूसरों के शरीर में अन्तर्यामी रूप में अवस्थित मुझ परमेश्वर के साथ द्वेष करते हैं।
18। अहंकार, शक्ती, गर्व, वासना आणि क्रोधाचा आश्रय घेऊन, ते लोक साधुसज्जनांच्या गुणांची निंदा करतात आणि अशा प्रकारे स्वतःच्या व इतरांच्या शरीरात अंतर्यामी रूपाने स्थित असलेल्या मज परमेश्वराचा द्वेष करतात.
18। अहंकार, बळ, घमेंड, काम आणि क्रोध यांचा आश्रय घेऊन
ते साधुसज्जनांच्या गुणांची निंदा करतात आणि अशा प्रकारे स्वतःच्या तसेच इतरांच्या शरीरात अंतर्यामी रूपाने स्थित असलेल्या माझा म्हणजेच परमेश्वराचा द्वेष करतात.

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥19॥
19। उन विद्वेषी, क्रूर-स्वभाव वाले, अमंगल स्वरूप नीच व्यक्तियों को मैं बारम्बार संसार की आसुरी (म्लेच्छ-

व्याध आदि) योनियों में ही पटकता रहता हूँ।
१९। त्या द्वेष करणाऱ्या, क्रूर स्वभावाच्या, अशुभ स्वरूपाच्या नीच व्यक्तींना मी वारंवार या संसारातील आसुरी, म्हणजे म्लेच्छ-व्याध इत्यादी योनींमध्येच टाकत राहतो.
१९। ज्या विद्वेषी, क्रूर स्वभावाच्या आणि अमंगल स्वरूपाच्या नीच व्यक्ती आहेत, त्यांना मी वारंवार या संसारातील आसुरी (म्लेच्छ-व्याध इत्यादी) योनींमध्येच फेकत राहतो.

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥20॥
20। हे कौन्तेय! वे मूढ़ लोग अनेक जन्मों तक आसुरी योनियों को प्राप्त करते हैं एवं मुझको प्राप्त नहीं कर पाने के कारण ही वे क्रमश: पहले से भी अधिक अधम गति (कुत्ते- सियार आदि की योनि को) प्राप्त करते हैं।
२०। हे कौन्तेय! ते मूढ लोक अनेक जन्मांपर्यंत आसुरी योनींना प्राप्त होतात आणि मला प्राप्त करू न शकल्यामुळेच ते क्रमाक्रमाने आधीपेक्षाही अधिक अधम गतीला, म्हणजे कुत्रा-कोल्हा इत्यादींच्या योनींना, प्राप्त होतात.

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥21॥
21। [उससे उद्धार का उपाय बता रहा हूँ,] काम, क्रोध तथा लोभ—ये नरक के तीन द्वार हैं। ये आत्म-धर्म का नाश कर देते हैं इसलिए इन तीनों का ही परित्याग करना चाहिए।
२१। [मी तुला त्यातून उद्धाराचा उपाय सांगत आहे,] काम, क्रोध आणि लोभ—हीच नरकाची तीन द्वारे आहेत. ही आत्मधर्माचा नाश करतात, म्हणून या तिघांचाही परित्याग करणे आवश्यक आहे.

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः। आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥22॥
22। हे कौन्तेय! नरक के इन तीनों द्वारों से विमुक्त

होकर व्यक्ति को आत्मा के श्रेयः (नित्य मंगल के लिए) आचरण करना चाहिए; इसी से उसे परम गति प्राप्त होगी।
२२। हे कौन्तेय! नरकाच्या या तीन द्वारांपासून विमुक्त होऊन मनुष्याने आत्म्याच्या श्रेयासाठी (नित्य मंगलासाठी) आचरण करावे; यामुळेच त्याला परमगती प्राप्त होते.

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥23॥
23। जो व्यक्ति शास्त्र-विधियों का उल्लंघन कर मनमाना आचरण करने लगता है, उसे सिद्धि, सुख या परम गति—कुछ भी प्राप्त नहीं होता।
२३। जी व्यक्ती शास्त्रविधींचे उल्लंघन करून मनमाने आचरण करते, तिला सिद्धी, सुख किंवा परमगती—यांपैकी काहीही प्राप्त होत नाही.
२३। जी व्यक्ती शास्त्रविधींचे उल्लंघन करून स्वैरपणे आचरण करू लागते, तिला सिद्धी, सुख किंवा परमगती—काहीही प्राप्त होत नाही.

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥24॥
इति ‘दैवासुरसम्पद्विभागयोगो’ नाम षोडशोऽध्यायः॥
24। इसलिए क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य, तुम्हारे लिए इस विषय में शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हैं; शास्त्रीय विधियों में जिसे ‘कर्म’ कहा गया है (अर्थात् शास्त्र-विधि यह है कि, ‘कर्म वही है जो भगवान् श्रीहरि की संतुष्टि विधान करे’), उसे समझकर ही तुम्हें यथाविधि कर्म करना चाहिए।
२४। म्हणून, काय कर्तव्य आहे आणि काय अकर्तव्य आहे—या विषयी तुझ्यासाठी शास्त्रच एकमेव प्रमाण आहे. शास्त्रीय विधींमध्ये ज्याला ‘कर्म’ म्हटले आहे, म्हणजेच ‘कर्म तेच आहे जे भगवान श्रीहरींची संतुष्टी साधते’ असा शास्त्राचा विधी आहे, ते समजून घेऊन तुला यथाविधी कर्म करावे.
२४। म्हणून, काय कर्तव्य आहे आणि काय अकर्तव्य आहे— याबाबत तुझ्यासाठी शास्त्रच एकमेव प्रमाण आहे. शास्त्रीय विधींमध्ये ज्याला ‘कर्म’ म्हटले आहे (म्हणजेच शास्त्र-

विधी असा आहे की ‘कर्म तेच आहे जे भगवान श्रीहरींची संतुष्टी साधते’), ते समजून घेऊन तु यथाविधी कर्म करावे.

इति षोडश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
इति षोडश (सोळाव्या) अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.

सप्तदशोऽध्यायः
श्रद्धात्रयविभागयोग अर्जुन उवाच—
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥1॥
1। अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! जो व्यक्ति शास्त्र की विधि का उल्लंघन करता है, किन्तु लोकाचार-जनित श्रद्धा के साथ देवताओं की पूजा करता है, उसकी निष्ठा कौनसी है— सात्त्विक, राजसिक या तामसिक?
१। अर्जुन म्हणाला—हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्रविधींचे उल्लंघन करून, पण लोकाचारातून (सामाजिक रूढी किंवा प्रथेतून) उत्पन्न झालेल्या श्रद्धेने देवतांची पूजा करतो, त्याची निष्ठा कोणती असते— सात्त्विक, राजसिक की तामसिक?

श्रीभगवानुवाच—
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥2॥
2। श्रीभगवान् ने कहा,—स्वभाव (पूर्व जन्मों के संस्कार) के आधार पर जीवों की श्रद्धा उत्पन्न (*) होती है; वह सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी भेद से तीन प्रकार की होती है। अब इसके विषय में मुझसे सुनो।
२। श्रीभगवान म्हणाले—स्वभावाच्या (पूर्वजन्मातील संस्कारांच्या) आधारावर जीवांची श्रद्धा उत्पन्न (*) होते; ती सात्त्विक, राजसिक आणि तामसिक अशा तीन प्रकारची असते. आता तिच्याविषयी माझ्याकडून ऐक.

(*) यहाँ साधुसंग होने से पहले जीव के पूर्व संस्कारों
के अनुरूप उत्पन्न श्रद्धा की बात ही कही गयी है। (टीप—येथे साधुसंग होण्यापूर्वी जीवाच्या पूर्वसंस्कारांनुसार उत्पन्न झालेल्या श्रद्धेचा उल्लेख आहे.)

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥3॥
3। हे भारत! सबकी श्रद्धा अपने-अपने ‘सत्त्व’ अर्थात् अन्तःकरण के अनुरूप होती है। सभी जीव श्रद्धामय हैं (अर्थात् हरेक की किसी न किसी वस्तु के प्रति श्रद्धा होती है)। इसलिए [समझना होगा] कि जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, उसका अन्तःकरण भी उसी प्रकार का हो जाता है।
3। हे भारत! सर्वांची श्रद्धा आपापल्या ‘सत्त्व’ अर्थात अंतःकरणानुसार असते. सर्व जीव श्रद्धामय आहेत (अर्थात प्रत्येकाची कोणत्या ना कोणत्या वस्तूवर श्रद्धा असते). म्हणून [हे समजून घ्यावे] की ज्याची जशी श्रद्धा असते, त्याचे अंतःकरणही तसेच होऊन जाते.
३। हे भारत! सर्वांची श्रद्धा आपापल्या ‘सत्त्व’ म्हणजेच अंतःकरणानुसार असते. सर्व जीव श्रद्धामय आहेत (म्हणजेच प्रत्येकाची कोणत्या ना कोणत्या वस्तूवर श्रद्धा असतेच). म्हणून [हे समजून घे] की ज्याची जशी श्रद्धा असते, त्याचे अंतःकरणही तसेच बनते.

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥4॥

4। सात्त्विक व्यक्ति सात्त्विक प्रकृति के देवताओं (जैसे ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य आदि) की पूजा करते हैं, राजसिक व्यक्ति राजसी प्रकृति के यक्ष और राक्षसों की एवं अन्य तामसिक व्यक्ति तामसी प्रकृत्ति के भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं।
4> सात्त्विक व्यक्ती सात्त्विक प्रकृतीच्या देवतांची (जसे ब्रह्मदेव, शंकर, इंद्र, चंद्र, सूर्य इत्यादींची) पूजा करतात, राजसिक व्यक्ती राजसी प्रकृतीच्या यक्ष आणि राक्षसांची तर इतर तामसिक व्यक्ती तामसी प्रकृतीच्या भूत-प्रेतांची पूजा करतात.

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥5॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
माञ्चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥6॥
5-6। जो लोग दंभ और अहंकार से युक्त हैं, काम, आसक्ति और
बल (तपोबल के अभिमान) से युक्त हैं एवं अविवेकी हैं, वे शास्त्र-विधि का उल्लंघन कर घोर तपस्या करते हैं। इससे शरीर में स्थित पंचभूतों को [व्यर्थ के उपवास आदि द्वारा या यज्ञ अपने शरीर का मांस अर्पण कर] तथा अंतःकरण में स्थित मुझे [अवज्ञा द्वारा] वे कष्ट पहुँचाते हैं। उन्हें तुम आसुरिक निष्ठा में अवस्थित जानो।
५-६। जे लोक दंभ आणि अहंकाराने युक्त आहेत, काम, आसक्ती आणि बलाच्या अधीन आहेत (तपोबलाचा खोटा अहंकार बाळगतात) आणि अविवेकी आहेत, ते शास्त्रविधीचे उल्लंघन करून घोर तपस्या करतात. यामुळे शरीरात स्थित पंचमहाभूतांना [व्यर्थ उपवास इत्यादीं द्वारे किंवा यज्ञात आपल्या शरीराचे मांस अर्पण करून] तसेच अंतःकरणात स्थित मला [अवज्ञेद्वारे] ते कष्ट पोहोचवतात. त्यांना तू आसुरी निष्ठेत स्थित समज.

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः। यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥7॥
7। जिस प्रकार सबका आहार भी प्रीति के विचार अनुसार तीन प्रकार का होता है; उसी प्रकार यज्ञ, तपस्या तथा दान भी तीन प्रकार के होते हैं—उन सबके इस भेद को श्रवण करो।
7. ज्याप्रमाणे प्रत्येकाचा आहार त्याच्या आवडीनुसार

तीन प्रकारचा असतो, त्याचप्रमाणे यज्ञ, तप आणि दान हे देखील तीन प्रकारचे असतात—त्या सर्वांमधील हा फरक तू आता ऐक.
7. ज्याप्रमाणे सर्वांचा आहारही प्रीतीच्या विचारानुसार तीन प्रकारचा असतो; त्याचप्रमाणे यज्ञ, तपस्या तसेच दान देखील तीन प्रकारचे असतात —त्या सर्वांचा हा भेद श्रवण कर.
७। ज्याप्रमाणे प्रत्येकाचा आहारही आवडीच्या विचारानुसार तीन प्रकारचा असतो; त्याचप्रमाणे यज्ञ, तप आणि दानही तीन प्रकारचे असतात —त्या सर्वांचा हा भेद तू ऐक.

आयुः सत्त्व-बलारोग्य-सुख- प्रीति-विवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥8॥

8. [illegible] [illegible], [illegible] (Exodus 20:12), [illegible], [illegible] [illegible] (Matthew 19:19) [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] (Leviticus 19:32), [illegible] (Proverbs 23:22), [illegible] (Exodus 21:15) [illegible]—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible].

8. [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] (Exodus 20:12), [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] (Matthew 19:19) [illegible] [illegible], [illegible] (Leviticus 19:32), [illegible] (Proverbs 23:22), [illegible] (Exodus 21:15) [illegible]—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible].

[illegible] [illegible], [illegible] [illegible]—[illegible] [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

१०. जे अन्न शिजवल्यानंतर तीन तास (एक प्रहर) उलटून गेले आहेत, जे नीरस (रसहीन), दुर्गंधीयुक्त, शिळे, उष्टे (सदाचारहीन व्यक्तीच्या भोजनातील उरलेले) आणि अपवित्र (मद्य-मांसादींनी युक्त) आहे, असे अन्न तामसिक व्यक्तींना प्रिय असते.
10. जे अन्न शिजवल्यानंतर तीन तासांपेक्षा (एक प्रहराहून अधिक) जुने झालेले, नीरस, दुर्गंधीयुक्त, शिळे, उष्टे (म्हणजेच सदाचारहीन व्यक्तीच्या जेवणातील उरलेले) तसेच अपवित्र (म्हणजेच मद्य-मांस इत्यादी) असते, ते तामसिक व्यक्तींना प्रिय असते.

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥11॥

11। [अब यज्ञ कितने प्रकार के होते हैं, वह सुनो,] ‘शास्त्र-विहित होने के कारण यज्ञ अवश्य करना चाहिए’—इस प्रकार केवल कर्त्तव्य मानकर, फल की इच्छा के बिना, मन को दृढ़ करके, शास्त्र-विधि के अनुसार किया गया यज्ञ, सात्त्विक होता है।
११। [आता यज्ञ किती प्रकारचे असतात, ते ऐक.] ‘शास्त्रविहित असल्यामुळे यज्ञ अवश्य करावाच’—अशा प्रकारे फक्त कर्तव्य मानून, फळाची इच्छा न करता, मन दृढ करून, शास्त्रविधीप्रमाणे जो यज्ञ केला जातो, तो सात्त्विक असतो.
११। [आता यज्ञ किती प्रकारचे असतात ते ऐक,] ‘शास्त्रात सांगितले असल्यामुळे यज्ञ केलाच पाहिजे’—अशा भावनेने केवळ कर्तव्य मानून, फळाची इच्छा न ठेवता, मन स्थिर करून, शास्त्रविधीप्रमाणे केलेला यज्ञ सात्त्विक असतो.

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥12॥
12। हे भरतश्रेष्ठ! किन्तु जो यज्ञ फल प्राप्ति के उद्देश्य से तथा दम्भ व्यक्त करने (अर्थात् ख्याति प्राप्ति) के लिए किया जाता है, उसे राजसिक जानो।
12। हे भरतश्रेष्ठ! परंतु जो यज्ञ फळप्राप्तीच्या उद्देशाने व दंभ व्यक्त करण्यासाठी (म्हणजेच प्रसिद्धी मिळवण्यासाठी) केला जातो, त्याला राजसिक समज.
12। हे भरतश्रेष्ठ! परंतु जो यज्ञ फल-प्राप्तीच्या उद्देश्याने आणि दम्भ व्यक्त करण्यासाठी (अर्थात ख्याती प्राप्त करण्यासाठी) केला जातो, त्याला राजसिक जाण.

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्। श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥13॥
13। जो यज्ञ शास्त्र की विधि के विरुद्ध, अन्नदान से रहित, बिना मंत्रों के (स्वर तथा वर्णहीन मंत्र सहित), बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किया जाता है, उसे पण्डितगण तामसिक यज्ञ कहते हैं।
13. जो यज्ञ शास्त्रविधीच्या विरुद्ध, अन्नदानाशिवाय, मंत्रांशिवाय (स्वर व वर्णहीन मंत्रांसहित), दक्षिणेशिवाय आणि श्रद्धेशिवाय केला जातो, त्याला पंडितजन तामसिक यज्ञ

म्हणतात.
13। जो यज्ञ शास्त्र-विधीच्या विरुद्ध, अन्नदान न करता, मंत्रांशिवाय (स्वर व वर्णहीन मंत्रांसहित), दक्षिणा न प्रदान करता आणि श्रद्धा नसताना केला जातो, त्याला पण्डितगण तामसिक यज्ञ म्हणतात.

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥14॥
14। [अब तपस्या कितने प्रकार की होती है, वह सुनो,] देवता, ब्राह्मण, गुरु तथा प्राज्ञ (विद्वान) व्यक्तियों की पूजा, शौच (पवित्रता), आर्जव (सरलता), ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा—इन सबको शारीरिक तपस्या कहते हैं।
14> [आता तपस्या किती प्रकारची असते, ते ऐक,] देवता, ब्राह्मण, गुरू तसेच प्राज्ञ (विद्वान) व्यक्तींची पूजा, शौच (पवित्रता), आर्जव (सरळपणा), ब्रह्मचर्य आणि अहिंसा—या सर्वांना शारीरिक तपस्या म्हणतात.

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥15॥
15। उद्वेग नहीं देने वाले, सत्य, प्रिय तथा हितकर वाक्यों का प्रयोग, वेद-अध्ययन तथा उनका अभ्यास—इन सबको वाणी का तप कहा गया है।
15> उद्वेग न देणारे, सत्य, प्रिय व हितकारक वचन बोलणे, तसेच वेदांचे अध्ययन आणि त्यांचा अभ्यास—या सर्वांना वाणीचे तप म्हटले आहे.

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥16॥
16। चित्त की प्रसन्नता, सौम्यत्व (सरलता), मौन (आत्म-चिंतन), आत्म-संयम (मन को विषयों से हटाना) तथा शुद्ध-मनोभावना (कपटता रहित भावना)—इनको मानसिक तपस्या कहा गया है।
१६> चित्ताची प्रसन्नता, सौम्यत्व (सरळपणा), मौन (आत्मचिंतन), आत्मसंयम (मनाला विषयांपासून दूर ठेवणे) आणि शुद्ध मनोभावना (कपटता रहित भावना) —यांना मानसिक तपस्या असे म्हटले आहे.

16। चित्ताची प्रसन्नता, सौम्यत्व (सरळपणा), मौन (आत्म-चिंतन), आत्मसंयम (मनाला विषयांपासून दूर करणे) आणि शुद्ध-मनोभावना (कपटता रहित भावना)—यांना मानसिक तपस्या म्हटले आहे.

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः। अफलाकांक्षिभिर्युक्तः सात्त्विकं परिचक्षते॥17॥
17। फल की इच्छा न रखकर परम श्रद्धा के साथ एकाग्र-चित्त से मनुष्यों द्वारा उक्त तीनों प्रकार की तपस्या को पण्डितगण सात्त्विक तपस्या कहते हैं।
17. फळाची इच्छा न ठेवता, परम श्रद्धेने आणि एकाग्र चित्ताने मनुष्यांद्वारे केलेल्या उपरोक्त तीन प्रकारच्या तपस्येला पंडितजन सात्त्विक तपस्या म्हणतात.
17। फळाची इच्छा न बाळगता, परम श्रद्धेने आणि एकाग्र-चित्ताने मनुष्यांद्वारे केलेल्या उपरोक्त तीन प्रकारच्या तपस्येला पंडितजन सात्त्विक तपस्या म्हणतात.

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमधुवम्॥18॥
18। जो तपस्या सत्कार, यश तथा पूजा-प्राप्ति के लिए दम्भ से की जाती है, उस अनित्य और अस्थिर तप को राजसिक कहा जाता है।
18. जी तपस्या सत्कार, यश आणि पूजेसाठी दंभाने केली जाते, त्या अनित्य आणि अस्थिर तपाला राजसिक म्हटले जाते.
18। जी तपस्या सत्कार, यश आणि पूजा यांच्या प्राप्तीसाठी दंभाने केली जाते, त्या अनित्य आणि अस्थिर तपाला राजसिक तपस्या म्हणतात.

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः। परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥19॥
19। जो तपस्या मूढ़ आग्रह से अपने शरीर और मन को कष्ट देकर या दूसरों को सताने के लिए की जाती है, उसे तामसिक कहा जाता है।
19. जी तपस्या मूढ हट्टाने स्वतःच्या शरीराला व मनाला त्रास देऊन किंवा इतरांना पीडा देण्यासाठी केली जाते, तिला तामसिक तपस्या म्हटले जाते.

19। जी तपस्या मूढ आग्रहपूर्वक आपल्या शरीर आणि मनाला कष्ट देऊन किंवा दूसऱ्यांना सतविण्यासाठी केली जाते, तिला तामसिक तपस्या म्हणतात.

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥20॥
20। [अब दान कितने प्रकार के होते हैं, वह सुनो] उपयुक्त स्थान में, उचित समय पर तथा योग्य पात्र को दान देना कर्त्तव्य है—इस प्रकार विचार करके प्रतिदान-प्राप्त करने की आशा न रखकर जो दान दिया जाता है, उस दान को सात्त्विक कहा गया है।
२०। [आता दान किती प्रकारचे असतात, ते ऐक] योग्य स्थानी, योग्य वेळी तसेच योग्य पात्राला (व्यक्तीला) दान देणे कर्तव्य आहे—असा विचार करून प्रतिदान मिळवण्याची आशा न ठेवता (परत काही मिळण्याची अपेक्षा न ठेवता) जे दान दिले जाते, त्या दानाला सात्त्विक म्हटले आहे.

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥21॥
21। किन्तु प्रत्युपकार प्राप्त करने के लिए या स्वर्ग आदि फल प्राप्ति के उद्देश्य से जो दान दिया जाता है या पछतावे के साथ जो दान दिया जाता है, उसे राजसिक दान कहा गया।
२१। परंतु प्रत्युपकार मिळवण्यासाठी (या दानाच्या बदल्यात मला काही फायदा होईल) किंवा स्वर्ग इत्यादी फलप्राप्तीच्या उद्देशाने जे दान दिले जाते, अथवा पश्चात्तापपूर्वक जे दान दिले जाते, त्याला राजसिक दान म्हटले आहे.

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥22॥
22। अनुचित स्थान पर, अनुचित समय में तथा अयोग्य पात्र
को जो दान दिया जाता है, पुनः [सत्पात्र को भी] यथायोग्य सत्कार न कर तथा अवज्ञा के साथ जो दान दिया जाता है, उसे तामसिक कहा गया है।
२२। अयोग्य स्थानी, अयोग्य वेळी तसेच अयोग्य व्यक्तीला

जे दान दिले जाते, पुन्हा [सत्पात्रालासुद्धा] यथायोग्य सत्कार न करता आणि अवज्ञापूर्वक जे दान दिले जाते, त्याला तामसिक म्हटले आहे.

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥23॥
23। [अब भगवान् विष्णु के नामों के साथ यज्ञ आदि अनुष्ठान के विषय में बता रहा हूँ—] ‘ॐ’, ‘तत्’, ‘सत्’—ये तीन प्रकार के ब्रह्मनिर्देशक नाम शास्त्रों में कथित हैं; प्राचीनकाल में [चतुर्मुख ब्रह्मा के द्वारा] इन तीन नामों से ब्राह्मण, वेद एवं यज्ञ प्रकटित हुए हैं।
२३. [आता भगवान विष्णूंच्या नामांसह यज्ञादी अनुष्ठानाविषयी सांगत आहे—] ‘ॐ’, ‘तत्’, ‘सत्’—ही तीन प्रकारची ब्रह्मनिर्देशक नावे शास्त्रांमध्ये कथन केली आहेत; प्राचीन काळी [चतुर्मुख ब्रह्मदेवांद्वारे] या तीन नामांपासून ब्राह्मण, वेद आणि यज्ञ प्रकट झाले आहेत.

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः। प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥24॥
24। इसलिए ब्रह्मवादियों की शास्त्रोक्त यज्ञ, दान तथा तपस्या आदि क्रियाएँ ‘ॐ’—शब्द के उच्चारण से सर्वदा अनुष्ठित हुआ करती हैं।
२४। म्हणून ब्रह्मवादी जनांच्या शास्त्रोक्त यज्ञ, दान तसेच तपस्या इत्यादी क्रिया ‘ॐ’ या शब्दाच्या उच्चारणाने सदैव केल्या जातात.

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः॥25॥
25। मुक्ति चाहने वाले लोग फल की इच्छा त्यागकर यज्ञ, तपस्या तथा दान आदि विभिन्न क्रियाएँ ‘तत्'-शब्द का उच्चारण करते हुए किया करते हैं।
२५. मुक्तीची इच्छा करणारे लोक फलाची इच्छा त्यागून यज्ञ, तपस्या तसेच दान इत्यादी विविध क्रिया ‘तत्’—या शब्दाचा उच्चार करून करीत असतात.

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥26॥
26। हे पार्थ! सद्भाव में (अर्थात् ब्रह्म में) तथा साधुभाव में (ब्रह्मज्ञ व्यक्ति में) ‘सत्’ शब्द का प्रयोग किया जाता है; उसी प्रकार मांगलिक कार्यों में भी ब्रह्मवाचक ‘सत्’-शब्द का प्रयोग होता है।
२६. हे पार्थ! सद्भावामध्ये (अर्थात ब्रह्माच्या ठिकाणी) तसेच साधुभावामध्ये (ब्रह्मज्ञ व्यक्तीच्या ठिकाणी) ‘सत्’ या शब्दाचा प्रयोग केला जातो; त्याचप्रमाणे मांगलिक कार्यांमध्येही ब्रह्मवाचक ‘सत्’—हा शब्द प्रयोजिला जातो.
२६। हे पार्थ! सद्भावात (म्हणजेच ब्रह्मामध्ये) तसेच साधुभावात (ब्रह्मज्ञ व्यक्तीमध्ये) ‘सत्’ शब्दाचा प्रयोग केला जातो; त्याचप्रमाणे मांगलिक कार्यांमध्येही ब्रह्मवाचक ‘सत्’ शब्दाचा प्रयोग होतो.

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥27॥
27। यज्ञ, तपस्या, दान और इनके लिए निष्ठापूर्वक अवस्थान में भी ‘सत्’ शब्द का व्यवहार होता है एवं जो सब कर्म भगवत्-उद्देश्य से सम्पन्न किये जाते हैं, ‘सत्’- शब्द द्वारा अभिहित होते हैं।
२७. यज्ञ, तपस्या, दान आणि त्यांसाठी निष्ठेने स्थिर राहण्यामध्येही ‘सत्’ शब्द वापरला जातो; तसेच भगवंतांसाठी केलेली सर्व कर्मे ‘सत्’ या शब्दाने दर्शविली जातात.
२७। यज्ञ, तपस्या, दान आणि त्यांच्यासाठी निष्ठापूर्वक केलेल्या आचरणातही ‘सत्’ शब्दाचा वापर होतो. तसेच जी सर्व कर्मे भगवंतांच्या उद्देशाने केली जातात, ती ‘सत्’ या शब्दाने संबोधली जातात.
२७> यज्ञ, तपस्या, दान आणि त्यांच्यासाठी निष्ठापूर्वक केलेल्या अवस्थानामध्येही ‘सत्’ या शब्दाचा व्यवहार होतो; तसेच जी सर्व कर्मे भगवंतांच्या उद्देशाने केली जातात, तीही ‘सत्’—या शब्दाने अभिहित केली जातात.

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥28॥
इति ‘श्रद्धात्रयविभागयोगो’ नाम सप्तदशोऽध्यायः॥

28। हे पार्थ! यज्ञ, दान, तपस्या या अन्यान्य जो सब कर्म अश्रद्धा के साथ किये जाते हैं, वे ‘असत्’ कहलाते हैं। वे न तो इस लोक में और न ही परलोक में फलप्रद होते हैं।
२८. हे पार्थ! यज्ञ, दान, तपस्या किंवा इतर जी सर्व कर्मे अश्रद्धेने केली जातात, ती कर्मे ‘असत्’ म्हणविली जातात. ती कर्मे या लोकातही फळ देत नाहीत आणि परलोकातही फळ देत नाहीत.
२८। हे पार्थ! यज्ञ, दान, तपस्या इत्यादी इतर जी सर्व कर्मे अश्रद्धेने केली जातात, ती ‘असत्’ म्हटली जातात. ती कर्मे ना या लोकात आणि ना परलोकात फलदायी ठरतात.
२८। हे पार्थ! यज्ञ, दान, तपस्या व अन्य जी कर्मे अश्रद्धापूर्वक आचरिली जातात, त्यांना ‘असत्’ असे संबोधिले जाते. ती कर्मे इहलोकीही निष्फळ होतात व परलोकीही निष्फळ होतात.

इति सप्तदश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त
इति सप्तदश (सतराव्या) अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.

अष्टादशोऽध्यायः
मोक्षयोगः
अर्जुन उवाच—
संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥1॥
1। अर्जुन ने कहा,—हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिसूदन! मैं संन्यास और त्याग का तत्त्व अलग-अलग रूप से जानना चाहता है।
१। अर्जुन म्हणाला,—हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिसूदन (केशी नावाच्या राक्षसाचा वध करणारे कृष्ण)! मला संन्यास आणि त्यागाचे तत्त्व वेगवेगळ्या रूपात जाणून घ्यायचे आहे.

श्रीभगवानुवाच—
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः। सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥2॥
2। श्रीभगवान् ने कहा,—समस्त काम्य-कर्मों के त्याग
को पण्डितगण ‘संन्यास’ के रूप में जानते हैं एवं समस्त नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य-कर्मों के फल के त्याग को विचक्षणगण (निपुण व्यक्ति) ‘त्याग’ कहते हैं।
२। श्रीभगवान् म्हणाले,—सर्व काम्य-कर्मांच्या त्यागाला पंडितगण ‘संन्यास’ म्हणून जाणतात आणि सर्व नित्य, नैमित्तिक तसेच काम्य-कर्मांच्या फळाच्या त्यागाला विचक्षणगण (निपुण व्यक्ती) ‘त्याग’ म्हणतात.

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः। यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥3॥

3। कुछ मनीषि यह कहते हैं कि,—सारे ही कर्म दोषयुक्त होने के कारण त्यागने योग्य हैं; दूसरे कहते हैं कि—यज्ञ, दान और तपस्या आदि कर्म [वेद -विहित होने के कारण] त्याज्य नहीं हैं।
३। काही सांख्यवादी मनीषी (विद्वान व्यक्ती) असे म्हणतात की,—सर्वच कर्मे दोषयुक्त असल्यामुळे त्यागण्यास योग्य आहेत; परंतु दुसरे काही मीमांसक म्हणतात की—यज्ञ, दान आणि तपस्या इत्यादी कर्मे [वेद-विहित असल्यामुळे] त्याज्य नाहीत.

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः॥4॥
4। हे भरतश्रेष्ठ! उस त्याग के संबंध में अब मेरा निश्चय सिद्धान्त श्रवण करो। हे पुरुषव्याघ्र! शास्त्रों में तीन प्रकार के त्याग बताये गये हैं।
४। हे भरतश्रेष्ठ! त्या त्यागासंबंधी आता माझा निश्चित सिद्धान्त श्रवण कर. हे पुरुषव्याघ्र! शास्त्रांमध्ये तीन प्रकारचे त्याग सांगितले गेले आहेत.

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥5॥
5। यज्ञ, दान, तपस्या आदि कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं, बल्कि इन्हें करना ही चाहिए—क्योंकि यज्ञ, दान, तपस्या बुद्धिमान व्यक्तियों के चित्त को अवश्य ही शुद्ध करने वाले हैं।
५। यज्ञ, दान व तपस्या इत्यादी कर्मे त्याज्य (त्यागण्यास योग्य) नाहीत, उलट ती करायलाच हवीत—कारण यज्ञ, दान व तपस्या इत्यादी कर्मे बुद्धिमान व्यक्तींचे चित्त अवश्य शुद्ध करणारी आहेत.

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च। कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥6॥
6। [वे किस प्रकार से चित्त शुद्धिकारक हैं, सुनो,] किन्तु आसक्ति (कर्त्तापन का अभिमान) एवं फलकामना से रहित होकर, [केवल ईश्वर- आराधना की बुद्धि को लेकर] इन सब कर्मों को करना कर्त्तव्य है—हे पार्थ! यह ही मेरा निश्चित तथा

उत्तम मत है।
६। [ती कर्मे कशा प्रकारे चित्तशुद्धिकारक आहेत, ते ऐक,] परंतु आसक्ती (कर्तेपणाचा अहंकार) आणि फळाच्या ईच्छेचा त्याग करून, [केवळ ईश्वर-आराधनेच्या बुद्धीने] ही सर्व कर्मे करणे कर्तव्य आहे—हे पार्थ! हेच माझे निश्चित व उत्तम मत आहे.

□□□□□□□ □□ □□□□□□□□ □□□□□□ □□□□□□□□□□
□□□□□□□□□□ □□□□□□□□□□□□□□□ □□□□□□□□□□□□□□□7□
7□ [□□ □□ □□□□ □□□□□□□ □□ □□□□□□ □□ □□□□ □□ □□□□ □□□□,]
□□□□□□-□□□□□ □□ □□□□□□ □□□□□ □□□□□ □□, □□□□□□□ □□□□ □□ □□□□□ □□□□
□□□□□ □□□□□□ ‘□□□□□□□’ □□ □□□□ □□□□ □□□□□ □□□□□ □□□□

□□ [□□□□ □□□□□ □□□□ □□□□□□□□□□□ □□□□□□□□□□□□ □□□□□□□.] □□□□□□□□□□□□□□□ □□□□□□ □□□□□□ □□□□□. □□□□□□ □□□□□□□□□ □□□□□□□ □□□□□□□□ □□□□□□ ‘□□□□□□□’ □□□□□□□ □□□□□□□□□ □□□□□.

□□□□□□□□□□□□ □□□□□□□□ □□□□□□□□□□□□□□□

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलञ्चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥9।
9। हे अर्जुन! आसक्ति तथा फलकामना को त्यागकर केवल कर्त्तव्य के विचार से जो नित्यकर्म किया जाता है, वह ‘सात्त्विक त्याग’ है, ऐसा मेरा अभिमत है।
९। हे अर्जुन! आसक्ती तसेच फलेच्छेचा (फळाच्या इच्छेचा) त्याग करून केवळ कर्तव्याच्या विचाराने जे नित्यकर्म केले जाते, तो ‘सात्त्विक त्याग’ आहे, असे माझे मत आहे.

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥10॥
10। [सात्त्विक त्यागी के लक्षण हैं कि] सात्त्विक त्यागी—सत्त्वगुण सम्पन्न, बुद्धिमान्, संशयरहित होते हैं एवं वे अकुशल (दुःखदायक) कर्मों से द्वेष नहीं करते तथा कुशल (सुखदायक) कर्मों में आसक्त नहीं होते।
१०। [सात्त्विक त्यागी व्यक्तीची लक्षणे अशी आहेत की] सात्त्विक त्यागी व्यक्ती—सत्त्वगुणयुक्त (सत्त्वगुणसम्पन्न), बुद्धिमान आणि संशयरहित असते. ती दुःखदायक (अकुशल) कर्मांचा द्वेष करत नाही आणि सुखदायक (कुशल) कर्मांमध्ये आसक्त होत नाही.

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥11॥
11। [वास्तव में] देहधारी जीव सम्पूर्ण रूप से कर्म का त्याग नहीं कर सकते, किन्तु जो लोग कर्म के फल का त्याग करते हैं, वे ही त्यागी कहलाते हैं।
११। [खरे तर] देहधारी जीव संपूर्णपणे कर्माचा त्याग करू शकत नाहीत. परंतु जे लोक कर्मफळाचा त्याग करतात, तेच खरे त्यागी म्हणून ओळखले जातात.

अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥12॥
12। [दूसरी ओर] जो लोग अत्यागी हैं अर्थात् कर्म के फल में आसक्त हैं, उन्हें मृत्यु के पश्चात् तीन प्रकार का कर्मफल प्राप्त होता है—अनिष्ट फल (नरक दुःख), ईष्ट फल (स्वर्ग सुख) तथा मिश्र फल (मनुष्य लोक का सुख-दुःख); किन्तु, संन्यासियों को कोई कर्मफल नहीं भोगना पड़ता।
१२। [दुसरीकडे] जे लोक अत्यागी आहेत—म्हणजे कर्मफळात आसक्त आहेत, त्यांना मृत्यूनंतर तीन प्रकारची कर्मफळे मिळतात—अनिष्ट फळ (नरकातील दुःख), इष्ट फळ (स्वर्गातील सुख), आणि मिश्र फळ (मनुष्यलोकातील सुख-दुःख). परंतु संन्यासी व्यक्तींना कोणतेही कर्मफळ भोगावे लागत नाही.

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥13॥
13। [क्यों नहीं, वह बता रहा हूँ] हे महाबाहो! कर्म को समाप्त करने के विषय में, सांख्य (वेदान्तशास्त्र) में सभी कर्मों की सिद्धि के लिए पाँच कारण निर्दिष्ट हुए हैं; वे मुझसे श्रवण करो।
१३। [का नाही, ते सांगतो.] हे महाबाहो! कर्मांचा अंत करण्याच्या विषयी, सांख्यशास्त्रात (वेदान्तशास्त्रात) सर्व कर्मांची सिद्धी होण्यासाठी पाच कारणे निर्दिष्ट केली आहेत; ती माझ्याकडून ऐक.

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम्॥14॥
14। [वे पाँच कारण हैं,] अधिष्ठान (शरीर), कर्त्ता (करने वाला जीव), विभिन्न करण (मन तथा कर्ण आदि इन्द्रियाँ), अलग-अलग प्रकार की चेष्टाएँ एवं पंचम कारण ‘दैव’ (अन्तर्यामी की सहायता)।
१४। [ती पाच कारणे अशी आहेत—] अधिष्ठान (शरीर), कर्त्ता (कर्म करणारा जीव), विविध करण (मन व इंद्रिये जसे कान इत्यादी), वेगवेगळ्या प्रकारच्या कृती (कर्मप्रवृत्ती), आणि पाचवे कारण ‘दैव’ (अंतर्यामीची सहाय्यता).

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥15॥

15। मनुष्य शरीर, मन और वाणी के द्वारा न्याय या अन्याय
जो भी कर्म करता है, ये पाँच ही उसके कारण हुआ करते हैं (अर्थात् इन पाँच कारणों के बिना कोई भी कर्म अनुष्ठित नहीं होता)।
१५। मनुष्य शरीर, मन आणि वाणी यांच्या द्वारे न्याय्य (धर्मयुक्त) किंवा अन्याय्य (अधर्मयुक्त) जे काही कर्म करतो, त्यासाठी ही पाच कारणेच जबाबदार असतात. (म्हणजे या पाच कारणांशिवाय कोणतेही कर्म अनुष्ठित होत नाही.)

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥16॥
16। ऐसी अवस्था में भी जो व्यक्ति केवल स्वयं (आत्मा)
को ही कर्त्ता के रूप में देखता है (*), वह अशुद्ध-बुद्धि वाला होने के कारण दुर्मति है— अर्थात् वह कुछ भी नहीं जानता।
(*) “अहंकार-विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते” (गीता 3/27), इस विचार के वशवर्त्ती है।
१६। अशा अवस्थेतही जी व्यक्ती फक्त स्वतःलाच (आत्म्यालाच) कर्ता मानते (*), ती अशुद्ध बुद्धीची असल्यामुळे दुर्मती आहे— म्हणजेच तिला काहीही ज्ञान नाही.
(*) “अहंकार-विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते” (गीता ३/२७)
या विचाराच्या वश झालेली आहे.

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥17॥
17। [दूसरी ओर] जिसमें कर्त्तापन का अभिमान अर्थात् ‘मैं कर्ता हूँ’, ऐसा भाव नहीं है, अतएव जिसकी बुद्धि कर्मफल में आसक्त नहीं है, वह व्यक्ति सब लोगों की हत्या करने पर भी — हत्या नहीं करता है, और उस फल में आबद्ध भी नहीं होता है।
१७। [दुसरीकडे] जिच्यात कर्तेपणाचा अभिमान—म्हणजे ‘मी कर्ता आहे’ अशी भावना नाही, आणि जिची बुद्धी कर्मफळात आसक्त नाही, त्या व्यक्तीने सर्व लोकांची हत्या केली तरी—ती व्यक्ती हत्या करत नाही, आणि त्या फळातही आबद्ध होत नाही.

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥18॥
18। [उसकी व्याख्या सुनो,] मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली प्रेरणा तीन प्रकार की है—ज्ञान, ज्ञेय (जानने योग्य) तथा परिज्ञाता (जानने वाला)। कर्म के भी तीन आधार हैं—करण (इन्द्रियाँ), क्रिया तथा कर्त्ता।
18। [त्याचे स्पष्टीकरण ऐक,] मनुष्याला कर्मात प्रवृत्त करणारी प्रेरणा तीन प्रकारची आहे—ज्ञान, ज्ञेय (जे जाणण्यासारखे आहे) आणि परिज्ञाता (जो जाणणारा आहे). कर्माचेही तीन आधार आहेत—करण (इंद्रिये), क्रिया आणि कर्ता.

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः। प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥19॥
19। सांख्य शास्त्र कहता है कि ज्ञान, कर्म तथा कर्त्ता [सत्त्व, रज और तम, इन] तीन गुणों के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। ये सब जिस प्रकार के हैं, यथावत् वह भी श्रवण करो।
१९। सांख्य शास्त्र सांगते की ज्ञान, कर्म आणि कर्ता
हे [सत्त्व, रज आणि तम या] तीन गुणांच्या भेदाने तीन प्रकारचे असतात. ते जसे आहेत, तसेच तू ऐक. त्या सर्वांच्या विविध प्रकारांबाबत तु माझ्या कडून सविस्तर जाणून घे.

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥20॥
20। एक दूसरे से अलग होने पर भी जिस ज्ञान के द्वारा सभी जीवों में एक अव्यय भाव अनुभूत होता है (अर्थात् देह आदि के अतीत एक चिन्मय आत्म-तत्त्व की उपलब्धि होती है), उस ज्ञान को सात्त्विक जानो।
२०. सर्व जीव एकमेकांपासून भिन्न असूनही ज्या ज्ञानाद्वारे त्या सर्व जीवांमध्ये एक अव्यय भाव अनुभवास येतो [अर्थात देह इत्यादींच्या पलीकडील एका चिन्मय आत्मतत्त्वाची उपलब्धी होते], त्या ज्ञानाला सात्त्विक जाण.
२०। एकमेकांपासून वेगळे असूनही, ज्या ज्ञानामुळे सर्व जीवांमध्ये एका अव्यय भावाची अनुभूती होते [म्हणजे देह इत्यादींपलीकडील एका चिन्मय आत्मतत्त्वाची प्राप्ती होते], त्या ज्ञानाला सात्त्विक समज.
२०. सर्व प्राणी वेगवेगळे दिसत असले तरी ज्या ज्ञानामुळे त्या सर्वांमध्ये एकच न बदलणारे तत्त्व दिसते — म्हणजे शरीराच्या पलीकडचे चिन्मय आत्म-तत्त्व कळते—ते ज्ञान सात्त्विक समज.
२०. एकमेकांपासून भिन्न असूनही ज्या ज्ञानाद्वारे सर्व जीवांमध्ये एक अव्यय भाव अनुभवला जातो [अर्थात देहादींच्या पलीकडे एका चिन्मय आत्म-तत्त्वाचा साक्षात्कार होतो], त्या ज्ञानाला तू सात्त्विक समज.

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥21॥
21। किन्तु जिस ज्ञान के द्वारा सभी जीवों में भिन्न प्रकार के अनेक भाव अलग-अलग अनुभव होते हैं, उस ज्ञान को राजसिक जानो।
२१. परंतु ज्या ज्ञानाने सर्व जीवांमध्ये भिन्न प्रकारचे अनेक भाव वेगवेगळे अनुभवास येतात, त्या ज्ञानाला राजसिक जाण.
२१. परंतु ज्या ज्ञानामुळे सर्व जीवांमध्ये भिन्न प्रकारचे अनेक भाव वेगवेगळे अनुभवले जातात, त्या ज्ञानाला राजसिक समज.

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्। अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम्॥22॥
22। और जिस ज्ञान में जीव केवल स्नान-भोजन आदि शारीरिक कार्यों को ही सम्पूर्ण मानकर (अर्थात् इससे अधिक और कुछ भी नहीं है, इस प्रकार से) आसक्त रहता है, एवं जो ज्ञान युक्ति-रहित, तत्त्वविचार-रहित और तुच्छ है, उसे तामसिक ज्ञान कहा जाता है।
२२. आणि ज्या ज्ञानात जीव केवळ स्नान-भोजन इत्यादी शारीरिक कार्यांनाच संपूर्ण मानून (अर्थात यापेक्षा अधिक काहीही नाही, अशा प्रकारे) आसक्त राहतो, आणि जे ज्ञान युक्तिरहित, तत्त्वविचाररहित व तुच्छ आहे, त्याला तामसिक ज्ञान म्हटले जाते.

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते॥23॥
23। [अब तीन प्रकार के कर्मों के विषय में सुनो,] जो कर्म नित्य है तथा जो निष्काम व्यक्ति के द्वारा अनासक्त-भाव से एवं राग-द्वेष के बिना अनुष्ठित होता है, उसे सात्त्विक कर्म कहा जाता है।
२३. [आता तीन प्रकारच्या कर्मांविषयी ऐक,] जे कर्म नित्य आहे आणि जे निष्काम व्यक्तीकडून अनासक्त-भावाने तसेच राग-द्वेषाविना आचरले जाते, त्याला सात्त्विक कर्म म्हटले जाते.

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥24॥
24। फल की कामना रखकर अहंकार-वश बहुत परिश्रम के साथ जो कर्म किया जाता है, वह राजसिक कहलाता है।
२४. फलाची कामना ठेवून, अहंकारवश खूप परिश्रमाने जे कर्म केले जाते, ते राजसिक म्हणून ओळखले जाते.
२४. फळाची कामना ठेवून अहंकाराने अतिशय परिश्रमपूर्वक
जे कर्म केले जाते, ते राजसिक म्हटले जाते.

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥25॥
25। जो कर्म भावी बन्धन (क्लेश) देने वाला हो, धर्मादि पुण्यों का नाश करे, अपने या दूसरों को पीड़ा पहुँचाए एवं अपने सामर्थ्य का विचार किये बिना केवल मोहवश आरम्भ किया जाय, उसे तामसिक कर्म कहा जाता है।
25। जे कर्म भावी बंधन (क्लेश) देणारे असते, धर्मादि पुण्यांचा नाश करते, स्वतःला किंवा इतरांना पीडा पोहोचवते आणि आपल्या सामर्थ्याचा विचार न करता केवळ मोहवश आरंभले जाते—त्या कर्माला तामसिक कर्म म्हणतात.
२५. जे कर्म भविष्यात बंधन (क्लेश) देणारे असेल, धर्मादि पुण्यांचा नाश करील, स्वतःला किंवा इतरांना पीडा देईल आणि आपल्या सामर्थ्याचा विचार न करता केवळ मोहामुळे आरंभिले जाईल, त्याला तामसिक कर्म म्हटले जाते.

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते॥
26॥
26। [इसके पश्चात् तीन प्रकार के कर्त्ता के संबंध में सुनो,] आसक्ति-रहित, निरहंकार, धैर्य-उत्साहशील एवं कार्य की सफलता-असफलता में निर्विकार—इस प्रकार के कर्ता को सात्त्विक कर्त्ता कहा जाता है।
२६. [आता तीन प्रकारच्या कर्त्यांविषयी ऐक.] जो आसक्तिरहित, निरहंकारी, धैर्यवान, उत्साही आणि कार्याच्या यश-अपयशात निर्विकार असतो—अशा प्रकारच्या कर्त्याला सात्त्विक कर्ता म्हणतात.

२६. [यानंतर तीन प्रकारच्या कर्त्यांविषयी ऐक,] आसक्तिरहित, निरहंकारी, धैर्य-उत्साहशील आणि कार्याच्या यश-अपयशामध्ये निर्विकार— अशा प्रकारच्या कर्त्याला सात्त्विक कर्ता म्हटले जाते.
२६. [आता तीन प्रकारचे कर्ते ऐक,] आसक्ती नसलेला, अहंकार नसलेला, धीर आणि उत्साह असलेला, आणि काम यशस्वी झाले काय किंवा अयशस्वी झाले काय—दोन्हीत निर्विकार राहणारा—अशा कर्त्याला सात्त्विक कर्ता म्हणतात.

रागी कर्मफलप्रेप्सुलुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः। हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः॥27॥
27। कर्म में आसक्त, कर्मफल-कामी, लोभी, हिंसात्मक, अपवित्र एवं हर्ष-शोक के अधीन कर्त्ता को राजसिक कहा जाता है।
२७. जो कर्ता कर्मात आसक्त असतो, कर्मफलाची कामना करणारा, लोभी, हिंसात्मक, अपवित्र आणि हर्ष-शोकाच्या अधीन असतो—
त्याला राजसिक कर्ता म्हणतात.
२७. कर्मात आसक्त, कर्मफलाची कामना करणारा, लोभी, हिंसक प्रवृत्तीच्या, अपवित्र आणि हर्ष-शोकाच्या अधीन असणाऱ्या कर्त्याला राजसिक म्हटले जाते.

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥28॥
28। अनुचित कार्य करने वाला, प्राकृत (विवेक-हीन), अनम्र, शठ (मायावी), दूसरों का अपमान करने वाला, आलसी, विषादयुक्त (शोकमग्न) तथा दीर्घसूत्री (अल्प समय में होने वाले कार्य को बहुत विलम्ब से संपन्न करने वाले) कर्त्ता को ही तामसिक कहा जाता है।
२८. जो कर्ता अनुचित कार्य करणारा, प्राकृत (विवेकहीन), अनम्र, शठ (मायावी), इतरांचा अपमान करणारा, आळशी, विषादयुक्त (शोकमग्न) आणि दीर्घसूत्री (अल्प वेळेत होणारे कार्य खूप विलंबाने करणारा) असतो— त्याला तामसिक कर्ता म्हणतात.
२८. अनुचित कार्य करणाऱ्या, प्राकृत (विवेकहीन), अनम्र (नम्र नसणाऱ्या), शठ (मायावी), दुसऱ्यांचा अपमान करणाऱ्या,

[illegible].

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥29॥
29। हे धनञ्जय! अब गुणों के भेद से बुद्धि तथा धृति के तीन रूप अलग-अलग सम्पूर्ण रूप से कहे जा रहे हैं, श्रवण करो।
२९. हे धनंजय! आता गुणांच्या भेदाने बुद्धी आणि धृतीचे तीन प्रकार संपूर्णपणे सांगितले जात आहेत—ते तू ऐक.
२९. हे धनंजय! आता गुणांच्या भेदाने बुद्धीचे व धृतीचे तीन प्रकार वेगवेगळे संपूर्ण रूपाने सांगितले जात आहेत, श्रवण कर.
२९. हे धनंजय! आता तीन गुणांनुसार बुद्धीचे आणि धृतीचे तीन प्रकार कसे वेगवेगळे असतात ते मी तुला सविस्तर सांगतो, ऐक.

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
30॥
30। हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, कार्य तथा अकार्य, भय तथा अभय, बंधन तथा मोक्ष आदि के भेद को समझती है, वह बुद्धि सात्त्विक है।
३०। हे पार्थ! जी बुद्धी प्रवृत्ती-निवृत्ती, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बंधन-मोक्ष यांचे भेद ओळखते, ती सात्त्विक बुद्धी आहे.
३०. हे पार्थ! जी बुद्धी प्रवृत्ती व निवृत्ती, कार्य व अकार्य, भय व अभय, बंधन व मोक्ष इत्यादींचा भेद समजते, ती बुद्धी सात्त्विक आहे.

यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥31॥
31। हे पार्थ! जिस बुद्धि के द्वारा धर्म तथा अधर्म, कार्य तथा अकार्य आदि को यथायथ रूप से नहीं जाना जा सकता, वह बुद्धि राजसी है।
३१. हे पार्थ! ज्या बुद्धीद्वारे धर्म व अधर्म, कार्य व अकार्य इत्यादी यथायोग्य रूपाने जाणले जाऊ शकत नाही, ती बुद्धी राजसी आहे.
३१. हे पार्थ! जी बुद्धी धर्म काय आणि अधर्म काय, कोणते काम करावे आणि कोणते करू नये—हे नीट समजू शकत नाही, ती राजसी बुद्धी होय.

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥32॥
32। हे पार्थ! जो बुद्धि तमोगुण के द्वारा आच्छन्न है, अतः अधर्म को धर्म समझती है एवं समस्त विषयों का विपरीत रूप से विचार करती है, वह बुद्धि तामसी है।
३२. हे पार्थ! जी बुद्धी तमोगुणाने आच्छादलेली आहे, त्यामुळे अधर्माला धर्म समजते आणि सर्व विषयांचा विपरीत रूपाने विचार करते, ती बुद्धी तामसी आहे.
३२। हे पार्थ! जी बुद्धी तमोगुणाने आच्छादित आहे, त्यामुळे अधर्मालाच धर्म मानते आणि सर्व विषयांचा विपरीत विचार करते, ती तामसी बुद्धी आहे.
३२। हे पार्थ! जी बुद्धी तमोगुणाने आच्छादित आहे, त्यामुळे अधर्मालाच धर्म मानते आणि सर्व विषयांचा विपरीत विचार करते, ती तामसी बुद्धी आहे.
३२. हे पार्थ! जी बुद्धी तमोगुणाने झाकली गेल्यामुळे अधर्मालाच धर्म मानते आणि प्रत्येक गोष्टीचा उलटा अर्थ लावते, ती तामसी बुद्धी होय.

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥33॥
33। [अब तीन प्रकार की धृति (धारणा शक्ति) का विचार सुनो,] हे पार्थ! योग अर्थात् परमात्म-चिन्तन के कारण अव्यभिचारिता-गुण प्राप्त जिस धृति के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की समस्त क्रियाएँ धृत (नियमित) होती हैं, वह

[illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] (illegible-illegible) illegible illegible! illegible! illegible illegible illegible-illegible illegible-illegible illegible illegible illegible illegible illegible illegible, illegible illegible illegible illegible illegible (illegible) illegible, illegible illegible illegible illegible.

illegible. [illegible illegible illegible illegible illegible [illegible-illegible] illegible illegible,] illegible illegible! illegible illegible illegible-illegible illegible-illegible illegible illegible illegible illegible illegible, illegible illegible illegible illegible illegible illegible [illegible] illegible, illegible illegible illegible illegible.

illegible illegible illegible illegible illegible illegible illegible

पहले विष के समान किन्तु परिणाम में अमृत-तुल्य है, अतः जिसके पुनः पुनः अभ्यास के कारण जीव [अन्त में] उसमें आसक्त हो जाता है एवं उसे संसार के दुःखों से छुटकारा मिल जाता है, उस निर्मल आत्म-बुद्धि से उत्पन्न सुख को ही सात्त्विक कहा जाता है।
३६-३७. हे भरतश्रेष्ठ! आता तीन प्रकारच्या सुखांबद्दल माझ्याकडून श्रवण कर. [पहिले सात्त्विक सुख—] जे सुख सुरुवातीला विषासमान परंतु परिणामात अमृतासारखे असते, म्हणून ज्याच्या वारंवार अभ्यासामुळे जीव [शेवटी] त्यात आसक्त होतो आणि त्याला संसाराच्या दुःखांपासून मुक्ती मिळते, त्या निर्मल आत्म-बुद्धीपासून उत्पन्न होणाऱ्या सुखालाच सात्त्विक म्हटले जाते.

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥38॥
38। विषय तथा इन्द्रियों के संयोग क्रम से जो पहले अमृत के समान लगता है, किन्तु परिणाम में विष के समान होता है, वह सुख राजसिक कहलाता है।
३८. विषय आणि इंद्रियांच्या संयोगामुळे जे सुख सुरुवातीला अमृतासमान वाटते, परंतु परिणामात विषासारखे होते, ते सुख राजसिक म्हटले जाते.

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥39॥
39। जो सुख पहले भी एवं परिणाम में भी आत्मा के स्वरूप
को आवृत करने वाला है एवं जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न है, वह सुख तामसिक कहलाता है।
३९। जे सुख आरंभी आणि शेवटीही आत्म्याच्या स्वरूपाला आच्छादित करते, तसेच जे निद्रा, आळस आणि प्रमाद यांपासून उत्पन्न होते, त्या सुखाला तामसिक सुख म्हणतात.
३९. जे सुख सुरुवातीलाही आणि परिणामातही आत्म्याच्या स्वरूपाला आच्छादणारे आहे, आणि जे निद्रा, आळस व प्रमाद यांपासून उत्पन्न होते, ते सुख तामसिक म्हटले जाते.

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥
40॥
40। पृथ्वी में अथवा स्वर्ग में और फिर देवताओं में भी ऐसी कोई सत्ता (प्राणी या वस्तु) नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से मुक्त हो।
४०. पृथ्वीवर अथवा स्वर्गात आणि मग देवतांमध्येही अशी कोणतीही सत्ता (प्राणी किंवा वस्तू) नाही, जी प्रकृतीपासून उत्पन्न झालेल्या या तीन गुणांपासून मुक्त आहे.

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥41॥
41। [अब उससे उद्धार प्राप्त करने का प्रकरण आरम्भ कर रहा हूँ, सुनो,] हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के कार्य उनके अपने स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार विभक्त हुए हैं।
४१। [आता उद्धार प्राप्त करण्याचे प्रकरण सुरू करतो, ऐक,] हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आणि शूद्र यांची कर्मे त्यांच्या स्वभावातून उत्पन्न झालेल्या गुणांनुसार विभक्त झाली आहेत.
४१. [आता त्यातून उद्धार प्राप्त करण्याचा विषय सुरू करत आहे, ऐक,] हे परंतपा! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आणि शूद्र यांची कार्ये त्यांच्या स्वतःच्या स्वभावापासून उत्पन्न झालेल्या गुणांनुसार विभागली गेली आहेत.

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥42॥
42। शम (अन्तःकरण का संयम), दम (बाह्य इन्द्रियों का संयम), तपः (शास्त्रों में वर्णित शारीरिक कष्ट), शौच (पवित्रता), क्षान्ति (सहिष्णुता), आर्जव (सरलता), ज्ञान (शास्त्रज्ञान), विज्ञान (शास्त्रानुभव) तथा आस्तिक्य (शास्त्र के अर्थों में दृढ़ विश्वास)—ये सब ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं।
४२. शम (अंतःकरणाचा संयम), दम (बाह्य इंद्रियांचा
संयम), तप (शास्त्रांत वर्णिलेले शारीरिक कष्ट), शौच (पवित्रता), क्षांती (सहिष्णुता म्हणजेच सहनशीलता), आर्जव (सरलता), ज्ञान (शास्त्रज्ञान), विज्ञान (शास्त्रानुभव) आणि आस्तिक्य (शास्त्राच्या अर्थांवर दृढ विश्वास)—ही सर्व ब्राह्मणांची स्वाभाविक कर्मे आहेत.
४२। शम (अंतःकरणाचा संयम), दम (बाह्य इंद्रियांचा संयम), तप (शास्त्रांमध्ये वर्णिलेले शारीरिक कष्ट), शौच (पवित्रता), क्षांती (सहिष्णुता), आर्जव (सरळपणा), ज्ञान (शास्त्रज्ञान), विज्ञान (शास्त्रानुभव) आणि आस्तिक्य (शास्त्रार्थांवरील दृढ विश्वास)—ही सर्व ब्राह्मणांची स्वाभाविक कर्मे आहेत.

शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम्॥43॥
43। शौर्य (पराक्रम), तेजः (अजेयत्व), धैर्य, दक्षता, मृत्यु निश्चित जानकर भी युद्ध में अपलायन (पीठ न दिखाना), दानशीलता तथा लोक-नेतृत्व—ये सब क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं।
४३. शौर्य (पराक्रम), तेजः (अजिंक्यता), धैर्य, दक्षता, मृत्यू निश्चित जाणूनही युद्धातून पळ न काढणे (युद्धात पाठ न दाखवणे), दानशीलता आणि लोक-नेतृत्व—ही सर्व क्षत्रियांची स्वाभाविक कर्मे आहेत.
४३। शौर्य (पराक्रम), तेजः (अजेयत्व), धैर्य, दक्षता, मृत्यू निश्चित आहे हे जाणूनही युद्धातून पळ न काढणे (युद्धात पाठ न दाखवणे), दानशीलता आणि लोकनेतृत्व—ही क्षत्रियांची स्वाभाविक कर्मे आहेत.

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥44॥
44। कृषि, गो रक्षा तथा वाणिज्य (व्यापार) आदि—वैश्य
के स्वभाविक कर्म हैं; एवं ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों की परिचर्या (सेवा) करना—शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है।
४४. कृषी, गो-रक्षा आणि वाणिज्य (व्यापार) इत्यादी— वैश्यांची स्वाभाविक कर्मे आहेत; आणि ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य यांची परिचर्या (सेवा) करणे—शूद्रांचे स्वाभाविक कर्म आहे.
४४। कृषी, गो-रक्षण आणि वाणिज्य (व्यापार) ही वैश्यांची स्वाभाविक कर्मे आहेत; तसेच ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य यांची परिचर्या (सेवा) करणे हे शूद्रांचे स्वाभाविक कर्म आहे.
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥45॥
45। अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में निरत होने पर जीव परमेश्वर-निष्ठा रूपी संसिद्धि प्राप्त कर लेता है; अब अपने कर्म में लगे रहने से जीव किस पद्धति से वह सिद्धि प्राप्त करता है, उसे श्रवण करो।
४५। आपल्या स्वाभाविक कर्मात निरंतर गुंतलेला जीव

परमेश्वर-निष्ठा रूपी संसिद्धी प्राप्त करतो; आता आपल्या कर्मात राहून तो जीव कोणत्या पद्धतीने ती सिद्धी प्राप्त करतो, ते श्रवण कर.
४५. आपापल्या स्वाभाविक कर्मात तत्पर राहिल्याने जीव परमेश्वर-निष्ठारूपी संसिद्धी प्राप्त करून घेतो; आता आपल्या कर्मात रत राहून जीव कोणत्या पद्धतीने ती सिद्धी प्राप्त करतो, ते श्रवण कर.

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥46॥
46। जिनसे समस्त जीवों की उत्पत्ति होती है एवं जिनके द्वारा यह समग्र जगत व्याप्त है, जीव अपने कर्मों द्वारा उन परमेश्वर की अर्चन कर (अर्थात् ‘इस कर्म के द्वारा परमेश्वर संतुष्ट हों, इस प्रकार उन्हें कर्मों को अर्पण करते हुए) सिद्धि प्राप्त करता है।
४६। ज्यांच्यापासून सर्व जीवांची उत्पत्ती होते आणि ज्यांनी हे संपूर्ण जगत व्यापलेले आहे, त्या परमेश्वराचे आपल्या विहित कर्मांद्वारे अर्चन करून (अर्थात ‘या कर्माद्वारे परमेश्वर संतुष्ट होवोत’ या भावाने त्यांना कर्मे अर्पण करून) मनुष्य सिद्धी प्राप्त करतो.
४६. ज्यांच्यापासून सर्व जीवांची उत्पत्ती होते आणि ज्यांच्याद्वारे हे संपूर्ण जगत व्याप्त आहे, जीव आपल्या कर्मांद्वारे त्या परमेश्वराचे अर्चन करून—अर्थात ‘या कर्माने परमेश्वर संतुष्ट होवोत’ अशा विचाराच्या माध्यमातून त्यांना कर्मे अर्पण करत—सिद्धी प्राप्त करतो.

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥47॥
47। वर्णाश्रम के अधीन जो स्वधर्म है, वह दोषयुक्त होने पर भी—सुष्ठु रूप से अनुष्ठित अन्य धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि, स्वभाव-विहित कर्म के अनुष्ठान में कोई पाप नहीं होता।
४७. वर्णाश्रमाधीन जो स्वधर्म आहे, तो दोषयुक्त असला

[illegible]—[illegible] (Acts 2:38) [illegible] [illegible] [illegible]; [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible].

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] (Romans 6) [illegible]—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]; [illegible], [illegible]-[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible].

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥48॥
48। हे कौन्तेय! फिर अग्नि जिस प्रकार धुएँ से आवृत रहती है, उसी प्रकार समस्त कर्म [कमोबेश] दोषों से आवृत होते हैं; अतएव स्वभाव-विहित कर्म दोषयुक्त होने पर भी उसका त्याग नहीं किया जा सकता।
४८। हे कौंतेय! ज्याप्रमाणे अग्नी धुराने वेढलेला असतो, त्याचप्रमाणे सर्व कर्मे (कमी-अधिक प्रमाणात) कोणत्या ना कोणत्या दोषाने व्यापलेली असतात; म्हणूनच स्वभाव-विहित (सहज) कर्म सदोष वाटले तरी त्याचा त्याग करू नये.
४८. हे कौन्तेय! जसा अग्नी धुराने आच्छादित असतो, तशीच सर्व कर्मे काही ना काही दोषांनी आच्छादित असतात. म्हणूनच स्वभावविहित कर्म दोषयुक्त असले तरी त्याचा त्याग करता येत नाही.

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः। नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥49॥
49। [स्वकर्म में लगा जीव परिणाम में किस प्रकार ‘संसिद्धि’ को प्राप्त करता है, क्रमशः सुनो,] सर्वत्र जड़ विषयों में अनासक्त-बुद्धि, वशीभूत-मन तथा जड़ सुखों में निस्पृह रहकर उक्त व्यक्ति ‘संन्यास’ अर्थात् स्वरूपतः कर्म-त्याग के द्वारा ‘नैष्कर्म’ (कर्मातीतत्व अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार की योग्यता) -रूपी परम सिद्धि को प्राप्त करता है।
४९. [स्वकर्मात मग्न झालेला जीव परिणामस्वरूप ‘संसिद्धी’ कसा प्राप्त करतो, ते क्रमाने ऐक—] सर्व जड विषयांत अनासक्त बुद्धी ठेवून, मनाला वश करून, जड सुखांबद्दल निस्पृह राहून तो ‘संन्यास’ म्हणजे स्वरूपतः कर्मत्यागाद्वारे ‘नैष्कर्म’ (कर्मातीतत्व, म्हणजेच ब्रह्मसाक्षात्काराची पात्रता)-रूपी परमसिद्धी प्राप्त करतो.

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे। समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥50॥
50। हे कौन्तेय! नैष्कर्म-सिद्धि प्राप्त व्यक्ति जिस

प्रकार ब्रह्म को प्राप्त करता है जो कि ज्ञान की परम निष्ठा (अर्थात् पराकाष्ठा) है, उसे संक्षेप में मुझसे श्रवण करो।
५०। हे कौंतेय (अर्जुन)! नैष्कर्म्य-सिद्धी प्राप्त केलेली व्यक्ती ज्या उपायाद्वारे ‘ब्रह्माची’ प्राप्ती करते तो उपाय म्हणजेच ज्ञानाची परमनिष्ठा (अर्थात पराकाष्ठा) आहे. त्या उपायाबद्दल तू संक्षेपात माझ्याकडून ऐकून घे.

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥51॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥52॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥53॥
51-53। [नैष्कर्म-सिद्धि प्राप्त व्यक्ति] सात्त्विक बुद्धि-युक्त होकर, मन को सात्त्विक धृति के द्वारा नियमित करके, रूप-रस आदि समस्त विषयों का परित्याग करके, राग-द्वेष को दूर कर, निर्जन स्थान में अवस्थित होते हैं; वे अल्प-आहारी तथा शरीर-मन-वाणी का संयम करता हुआ, वैराग्य का आश्रय करके, नित्य भगवद् चिंता-परायण होते हैं; इस प्रकार अहंकार, बल, पाखण्ड, काम, क्रोध, परिग्रह (दान आदि-ग्रहण) को त्यागकर, ममता-रहित तथा शांत (निर्गुण) व्यक्ति ब्रह्म-अनुभव में समर्थ होते हैं।
५१-५३। [नैष्कर्म्य-सिद्धी प्राप्त केलेल्या व्यक्ती] सात्त्विक बुद्धीने युक्त होऊन, सात्त्विक धैर्याद्वारे (धृतिद्वारे) मनाचे नियमन करून, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध इत्यादी सर्व विषयांचा परित्याग करून आणि राग-द्वेष दूर करून एकांत (निर्जन) ठिकाणी राहतात; त्या व्यक्ती मिताहारी (कमी आहार घेणाऱ्या) असतात तसेच शरीर, मन आणि वाणीवर संयम ठेवून, वैराग्याचा आश्रय घेऊन सदैव भगवंतांच्या चिंतनात मग्न असतात; अशा प्रकारे अहंकार, बळ, पाखंड (दंभ), काम, क्रोध आणि परिग्रह (दान वगैरे ग्रहण करणे) यांचा त्याग करून, ममत्वरहित (ममता-रहित) आणि शांत (निर्गुण) व्यक्ती ब्रह्मानुभवासाठी समर्थ होतात.
५१–५३. [नैष्कर्मसिद्धी प्राप्त करणारे पुरुष]

सात्त्विक बुद्धीने युक्त होऊन, मनाला सात्त्विक धृतिद्वारे नियमित करून, रूप-रस इत्यादी समस्त विषयांचा परित्याग करतात आणि राग-द्वेष दूर करून, निर्जन स्थानी स्थित होतात. ते अल्पाहारी असतात, शरीर-मन-वाणी यांचा संयम पाळतात, वैराग्याचा आश्रय घेत नित्य भगवंतांचे चिंतन करण्यात मग्न राहतात. अशा प्रकारे अहंकार, बल, पाखंड, काम, क्रोध, परिग्रह (दान वगैरे ग्रहण करणे) यांचा त्याग करून, ममता-रहित व शांत (निर्गुण) पुरुष ब्रह्मानुभव प्राप्त करण्यास समर्थ होतात.

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥54॥
54। [अब ज्ञान की जो पराकाष्ठा है, वह बता रहा हूँ,] ब्रह्म में अवस्थित व्यक्ति—प्रसन्न-आत्मा हैं, इसलिए वे किसी विषय में कोई शोक या आकांक्षा नहीं करते हैं। बाह्य अनुसन्धान नहीं होने के कारण उनका सभी प्राणियों में समभाव होता है; इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त व्यक्ति मेरे प्रति परा (केवला) भक्ति को प्राप्त कर लेता है।
५४। [आता ज्ञानाची जी पराकाष्ठा आहे, ती सांगत आहे,] ब्रह्मात अवस्थित व्यक्ती प्रसन्न-आत्मा असतात; त्यामुळे त्या कोणत्याही विषयाचा शोक करत नाही किंवा कसलीही आकांक्षा (इच्छा) बाळगत नाही. बाह्य विषयांचे अनुसंधान उरले नसल्यामुळे अशा व्यक्तींचा सर्व प्राण्यांच्या ठिकाणी समभाव असतो; अशा अवस्थेला प्राप्त झालेल्या व्यक्ती माझ्याप्रति ‘परा’ (केवला) भक्ती प्राप्त करतात.

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥55॥
55। भक्ति के द्वारा ही वे मुझे, मेरे स्वरूप को तथा मेरे स्वभाव को तत्त्वतः जान सकते हैं; इस प्रकार मेरे तत्त्व को जानकर वे [नित्य परिकर, लीला तथा धाम-विशिष्ट] मुझमें अर्थात् मेरी नित्यलीला में प्रवेश करते हैं।
५५. भक्तीनेच ते मला, माझे खरे स्वरूप आणि माझ्या स्वभावाला तत्त्वतः जाणू शकतात; अशा प्रकारे माझे तत्त्व जाणून ते [नित्य परिकर, लीला तथा धाम यांनी युक्त] मजमध्ये, म्हणजेच माझ्या नित्यलीलेत प्रवेश करतात.
५५। भक्तीच्या द्वारेच ते मला, माझ्या स्वरूपाला आणि माझ्या स्वभावाला तत्त्वतः (यथार्थपणे) जाणू शकतात; अशा प्रकारे माझे तत्त्व ओळखून ते [नित्य परिकर, लीला आणि धाम-विशिष्ट अशा] माझ्यामध्ये म्हणजेच माझ्या नित्यलीलेमध्ये प्रवेश करतात.

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्वयपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥56॥
56। मेरा अनन्य भक्त सर्वदा समस्त कर्म करने पर भी मेरी कृपा से नित्य, अव्यय पद (वैकुण्ठ-धाम) प्राप्त करता

है।
५६। माझा अनन्य भक्त सदैव सर्व प्रकारची कर्मे करत असूनही, माझ्या कृपेने शाश्वत आणि अविनाशी अशा पदाला (वैकुंठ-धामाला) प्राप्त करतो.
५६. माझा अनन्य भक्त, सर्व कर्मे करीत असतानाही, माझ्या कृपेने नित्य व अव्यय पद (वैकुण्ठधाम) प्राप्त करतो.

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः। बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥57॥
57। [ऐसी अवस्था में तुम्हारा यह कर्त्तव्य है कि,] तुम शुद्ध-भक्तिपर बुद्धियोग का आश्रय लेकर सर्वदा मुझमें चित्त लगाओ एवं उस चित्त के द्वारा तुम अपने समस्त कर्मों को मुझमें समर्पण करके मेरे परायण हो जाओ।
५७। [अशा स्थितीत तुझे हे कर्तव्य आहे की,] तू शुद्ध भक्तीने युक्त असलेल्या बुद्धियोगाचा आश्रय घेऊन तुझे चित्त सदैव माझ्या ठायी लाव आणि त्या चित्ताद्वारे आपली सर्व कर्मे मला समर्पित करून माझ्याच परायण हो.

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि॥58॥
58। मुझमें चित्त समर्पित होने पर तुम मेरी कृपा से समस्त बाधा-विघ्नों को पार कर जाओगे; और यदि तुम अहंकारवश मेरे उपदेशों को नहीं सुनोगे, तो संसार-रूप विनाश को प्राप्त होओगे।
५८. माझ्यात चित्त समर्पित केल्यास तू माझ्या कृपेने सर्व अडथळे व विघ्ने पार करशील; पण जर तू अहंकारवश माझे उपदेश ऐकणार नाहीस, तर तुला संसाररूपी विनाश प्राप्त होईल.
५८। माझ्या ठायी चित्त समर्पित केल्यावर, तू माझ्या कृपेने सर्व बाधा आणि संकटांना पार करून जाशील; परंतु जर तू अहंकारापोटी माझे उपदेश ऐकले नाहीस, तर तू (संसाररूपी) विनाशाला प्राप्त होशील.

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥59॥
59। [और फिर] अहंकार का आश्रय कर तुम यह जो सोच रहे हो

कि ‘युद्ध नहीं करूँगा’, तुम्हारा यह संकल्प मिथ्या ही सिद्ध होगा; क्योंकि, तुम्हारा स्वभाव तुम्हें युद्ध में नियुक्त करेगा।
५९। [आणि दुसरे असे की] अहंकाराचा आश्रय घेऊन तू जो असा विचार करत आहेस की ‘मी युद्ध करणार नाही’, तुझा हा संकल्प खोटा (मिथ्या) ठरेल; कारण, तुझा क्षत्रिय स्वभावच तुला युद्धात प्रवृत्त करेल.

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥60॥
60। हे कौन्तेय! मोहवश अभी तुम जिस कर्म को नहीं करना चाहते हो, स्वभाव-विहित अपनी प्रवृति के द्वारा चालित होकर तुम वह कर्म विवश होकर भी करोगे।
६०। हे कौंतेय! मोहामुळे सध्या तू जे कर्म करू इच्छित नाहीस, तेच कर्म तुला तुझ्या स्वभाव-विहित प्रवृत्तीमुळे विवश होऊन करावे लागेल.
६०. हे कौन्तेय! मोहामुळे तू आत्ता जे कर्म करायला इच्छुक नाहीस, तेही तुझ्या स्वभावाने ठरवलेल्या प्रवृत्तीने चालित होऊन तू विवशपणे करशील.

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥61॥
61। [कारण यह है] हे अर्जुन! ईश्वर सभी जीवों के हृदय में अवस्थित हैं; वे माया द्वारा कर्मचक्र-रूपी यंत्र पर आरूढ़ सभी जीवों को कर्मानुसार भ्रमण कराते रहते हैं।
६१। [कारण असे आहे की] हे अर्जुन! ईश्वर सर्व जीवांच्या (प्राण्यांच्या) हृदयामध्ये स्थित आहेत; ते आपल्या मायेद्वारे, कर्मचक्र-रूपी यंत्रावर आरूढ झालेल्या सर्व जीवांना त्यांच्या कर्मांनुसार भ्रमण करवतात.

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
62॥
62। [अतएव] हे भारत! तुम सभी प्रकार से उन ईश्वर की ही शरण ग्रहण करो; उनकी कृपा से तुम परम शांति एवं नित्यधाम प्राप्त करोगे।
६२। [म्हणूनच] हे भारत (अर्जुन)! तू सर्व प्रकारे त्या ईश्वरालाच शरण जा; त्यांच्याच कृपेने तुला परम शांती आणि शाश्वत स्थान (नित्यधाम) प्राप्त होईल.
६२. [म्हणूनच] हे भारत! तू सर्व प्रकारे त्या ईश्वराचीच शरण घे. त्यांच्या कृपेने तुला परमशांती आणि नित्यधाम प्राप्त होईल.

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया। विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥63॥
63। यह गुह्य से भी गुह्यतर (परम गोपनीय) ज्ञान मैंने तुम्हें कहा है; तुम इसपर अशेष रूप से विचार कर जैसी इच्छा हो, वैसा करो।
६३। हे गुह्यापेक्षाही गुह्यतर (अत्यंत गोपनीय) ज्ञान
मी तुला सांगितले आहे; तू यावर पूर्णपणे (अशेष रूपाने) विचार कर आणि मग तुला जसे योग्य वाटेल, तसे कर.

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥64॥
64। पुनः, मेरा सर्वश्रेष्ठ उपदेश, जो सर्वगुह्यतम (सर्वाधिक गोपनीय) है, उसे श्रवण करो; तुम मेरे अत्यंत प्रिय हो, अतएव तुम्हारे हित के लिए कह रहा हूँ।
६४. पुन्हा, माझा सर्वश्रेष्ठ उपदेश—जो सर्वगुह्यतम (सर्वाधिक गोपनीय किंवा गुप्त राखण्याजोगा) आहे—तो तू ऐक. कारण तू माझा अत्यंत प्रिय आहेस, म्हणून मी तुझ्या हितासाठी हे सांगत आहे.

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥65॥
65। तुम अपना चित्त मुझे अर्पण करो, मेरी कथा श्रवण-कीर्तन आदि भक्तियाजन-शील भक्त बनो, मेरी पूजा करने वाले

होओ, [अथवा केवल] मुझे नमस्कार करो—ऐसा करने पर तुम मुझे प्राप्त करोगे। मैं तुम्हारे निकट यह सत्य प्रतिज्ञा कर रहा हूँ, क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो।
६५. तू आपले चित्त मला अर्पण कर, माझी कथेचे श्रवण व कीर्तन करीत शुद्धाभक्तीच्या अंगांचे अनुष्ठान करणारा भक्त बन, माझी पूजा कर, [अथवा फक्त] मला नमस्कार कर—असे केल्यास तू मला प्राप्त करशील. मी तुझ्या निकट ही सत्य प्रतिज्ञा करीत आहे, कारण तू मला अत्यंत प्रिय आहेस.

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥66॥
66। [वर्णाश्रम सम्बन्धीय] समस्त धर्मों का परित्याग
कर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो; शोक मत करना—मैं तुम्हें उन-उन धर्मों का परित्याग करने के फलस्वरूप उत्पन्न सभी पापों से मुक्त कर दूँगा।
६६। [वर्णाश्रम संबंधी] समस्त धर्मांचा परित्याग करून एकमात्र मला शरण ये; शोक करू नकोस—मी तुला त्या-त्या धर्मांचा परित्याग केल्यामुळे उत्पन्न होणाऱ्या सर्व पापांपासून मुक्त करीन.
६६. [वर्णाश्रमाशी संबंधित] सर्व धर्मांचा परित्याग करून एकमात्र माझी शरणागती पत्कर; तू शोक करू नकोस—मी तुला या सर्व धर्मांचा परित्याग केल्याने उत्पन्न होणाऱ्या सर्व पापांपासून मुक्त करीन.

इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥67॥
67। [अब इस गीताशास्त्र का कौन अधिकारी है और कौन अनाधिकारी, उसे सुनो,] इस गीताशास्त्र का उपदेश किसी भी धर्मानुष्ठानहीन (असंयमित) तथा भक्तिहीन व्यक्ति को मत देना, और फिर श्रवण-विमुख तथा मुझसे द्वेष करने वाले व्यक्ति को भी नहीं बताना।
६७। [आता या गीताशास्त्रासाठी कोण पात्र (अधिकारी) आहे आणि कोण अपात्र (अनाधिकारी), ते ऐक,] या गीताशास्त्राचा उपदेश कोणत्याही धर्मानुष्ठानहीन (असंयमित) तसेच भक्ती नसलेल्या व्यक्तीला कधीही करू नकोस; आणि जिची ऐकण्याची इच्छा नाही (श्रवण-विमुख) तसेच जी माझा द्वेष करते, अशा

व्यक्तीलाही हे ज्ञान सांगू नकोस.
६७. [आता या गीताशास्त्राचा अधिकारी कोण आणि अनाधिकारी कोण, ते ऐक—] या गीताशास्त्राचा उपदेश धर्मानुष्ठानहीन (असंयमी) व भक्तिहीन व्यक्तीस करू नये; तसेच श्रवणास अनिच्छुक किंवा माझ्याशी द्वेष करणाऱ्या व्यक्तीसही हे गीताशास्त्र सांगू नये.

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥68॥
68। [दूसरी ओर] जो मेरे भक्तों को इस परम गोपनीय गीता कथा का उपदेश करेंगे, वे मेरे प्रति परा भक्ति प्राप्त कर मुझे ही प्राप्त होंगे, इसमें कोई संशय नहीं है।
६८। [दुसरीकडे] जे माझ्या भक्तांना या परम गोपनीय गीता- कथेचा उपदेश प्रदान करतील, ते माझ्याप्रति ‘परा भक्ती’ (सर्वोच्च भक्ती) प्राप्त करून मलाच प्राप्त होतील, याबद्दल काहीही संशय नाही.

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥69॥
69। इस मनुष्य लोक में उस गीताशास्त्र की व्याख्या करने वाले की अपेक्षा और कोई मेरा प्रियकार्य करने वाला नहीं है और होगा भी नहीं।
६९। या मनुष्यलोकात त्या गीताशास्त्राबद्दल इतरांना व्याख्यान देणाऱ्या वक्त्यापेक्षा माझे अधिक प्रिय कार्य करणारा दुसरा कोणीही नाही आणि भविष्यात कधी होणारही नाही.
६९। या मनुष्यलोकात त्या गीताशास्त्राचा खरा अर्थ इतरांना सुस्पष्ट करून सांगणाऱ्या वक्त्यापेक्षा माझे अधिक प्रिय कार्य करणारा दुसरा कोणीही नाही आणि भविष्यात कधी होणारही नाही.

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः। ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥70॥
70। [अब गीता-अध्ययन तथा श्रवण करने का फल बता रहा हूँ,]
जो हमारे इस परम धर्मयुक्त कथोपकथन का अध्ययन करते हैं, उनके उस अध्ययन को मैं ज्ञान यज्ञ के द्वारा अपनी अर्चन के रूप में स्वीकार कर लेता हूँ।
७०। [आता गीतेचे अध्ययन आणि श्रवण करण्याचे फळ सांगत आहे,] ज्या व्यक्ती आमच्या या परम धर्मयुक्त संवादाचे (कथोपकथनाचे) अध्ययन करतात, त्यांचे ते अध्ययन मी ज्ञानयज्ञाद्वारे केलेले माझे अर्चन म्हणून स्वीकारतो.
७०. [आता गीतेचे अध्ययन व श्रवणाचे फल सांगतो,] जे लोक आमच्या या परम धर्मयुक्त संवादाचे अध्ययन करतात, त्यांच्या त्या अध्ययनाला मी ज्ञानयज्ञाच्या रूपाने केलेले माझे अर्चन म्हणून स्वीकारतो.

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥
71॥
71। [भक्त नहीं, किन्तु] जो व्यक्ति श्रद्धावान् तथा द्वेषरहित होकर गीता पठन का श्रवण करते हैं, वे भी पापमुक्त होकर पुण्यकर्मा मनुष्यों को प्राप्त होने वाले शुभ लोकों को प्राप्त करते हैं।
७१. [भक्त नसले तरीही] जे लोक श्रद्धेने आणि द्वेषरहित भावनेने गीतेच्या पठणाचे श्रवण करतात, तेही पापमुक्त होऊन पुण्यकर्म करणाऱ्या मनुष्यांना प्राप्त होणाऱ्या शुभ लोकांना प्राप्त होतात.
७१। [भक्त नाही, परंतु] ज्या व्यक्ती श्रद्धावान आणि द्वेषरहित होऊन गीता पठणाचे श्रवण करतात, त्या देखील पापांपासून मुक्त होऊन पुण्यकर्म करणाऱ्या मनुष्यांना प्राप्त होणाऱ्या शुभ लोकाप्रत (स्वर्गादी उत्तम लोकांठायी) जातात.

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा। कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥72॥
72। हे पार्थ! क्या तुमने एकाग्रचित्त से इस गीता को श्रवण किया है? हे धनञ्जय! क्या इसे सुनकर तुम्हारा अज्ञान

से उत्पन्न मोह नष्ट हो गया है?
७२। हे पार्थ! काय तू एकाग्र चित्ताने या गीतेचे श्रवण केले आहेस? हे धनंजय! हे ऐकून तुझा अज्ञानामुळे निर्माण झालेला मोह (भ्रम) नष्ट झाला आहे का?
७२. हे पार्थ! तू ही गीता एकाग्रचित्ताने श्रवण केली आहेस का? हे धनंजय! तिचे श्रवण करून तुझा अज्ञानजन्य मोह नष्ट झाला आहे का?

अर्जुन उवाच—
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥73॥
73। अर्जुन ने कहा, हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है; ‘मैं आपका नित्य दास हूँ’, मुझे यह पुनः स्मरण हो आया है एवं आपके नित्यदासत्व में अवस्थित हो गया हूँ; मेरे सभी संशय दूर हो गये हैं, अब आप जैसा कहेंगे, मैं वैसा ही करूँगा।
७३। अर्जुन म्हणाला, हे अच्युत! आपल्या कृपेने माझा मोह नष्ट झाला आहे; ‘मी आपला नित्य दास आहे’, याचे मला पुन्हा स्मरण झाले आहे आणि मी आपल्या नित्यदासत्वामध्ये स्थित झालो आहे; माझे सर्व संशय दूर झाले आहेत, आता आपण जशी आज्ञा द्याल, मी तसेच करीन.
७३. अर्जुन म्हणाला,—हे अच्युत! आपल्या कृपेने माझा मोह नष्ट झाला आहे; ‘मी आपला नित्यदास आहे’ हे मला पुन्हा स्मरण झाले आहे आणि मी आपल्या नित्यदासत्वात स्थिर झालो आहे; माझे सर्व संशय दूर झाले आहेत. आता आपण जे सांगाल, तेच मी करीन.

सञ्जय उवाच—
इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः। संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥74॥
74। संजय ने कहा,—इस प्रकार मैंने महात्मा श्रीवासुदेव और पार्थ के इस अद्भुत एवं रोमांचकारी संलाप (संवाद) को श्रवण किया।
७४. संजय म्हणाला,—या प्रकारे मी महात्मा श्रीवासुदेव आणि पार्थ यांचा अद्भुत व रोमांचकारी संलाप (संवाद) श्रवण केला.

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥75॥
75। [अहो!] श्रीव्यासदेव की कृपा से ही मैंने स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण के अपने श्रीमुख से वर्णित इस परम गुह्य योग को श्रवण किया।
७५. [अहो!] श्रीव्यासदेवांच्या कृपेनेच मी स्वतः योगेश्वर श्रीकृष्णांच्या श्रीमुखातून वर्णन झालेला हा परमगुह्य योग श्रवण केला.

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्। केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥76॥
76। राजन! श्रीकेशव और अर्जुन के इस अद्भुत पवित्र संलाप को जितनी बार भी स्मरण कर रहा हूँ, उतनी बार ही रोमांचित हो रहा हूँ।
७६. राजन! श्रीकेशव आणि अर्जुन यांचा हा अद्भुत व पवित्र संवाद मी जितक्या वेळा स्मरण करतो, तितक्या वेळा माझ्या अंगावर रोमांच उभे राहतात.
७६। हे राजा! श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्यातील हा अद्भुत आणि पवित्र संवाद (संलाप) मी जितक्या वेळा स्मरण करतो, तितक्या वेळा मी रोमांचित होतो (माझ्या अंगावर रोमांच उभे राहतात).

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥77॥
77। पुनः हे राजन्! श्रीहरि का वह अति अद्भुत विश्वरूप, अहो! उसका स्मरण करते-करते मुझे अतिशय विस्मय उत्पन्न हो रहा है एवं मैं बारम्बार पुलकित हो रहा हूँ।
७७. पुन्हा हे राजन्! श्रीहरींचे ते विश्वरूप अतिशय अद्भुत होते. अहो! त्याचे स्मरण करताकरता माझ्या हृदयात अत्यंत विस्मय उत्पन्न होत आहे आणि मी वारंवार रोमांचित होत आहे.

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्धुवा नीतिर्मतिर्मम॥78॥
78। [राजन! और क्या कहूँ] जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा

जहाँ गाण्डीवधारी अर्जुन वर्तमान हैं, वहीं पर राज्यलक्ष्मी, विजय, विभूति तथा न्याय निश्चित है—यही मेरा अभिमत है।
७८। [राजन्! आणखी काय सांगू?] जिथे योगेश्वर श्रीकृष्ण आणि गाण्डीवधारी अर्जुन उपस्थित आहेत, तिथेच राज्यलक्ष्मी, विजय, विभूती आणि न्याय निश्चित विद्यमान असतात—हेच माझे मत आहे.
७८. [राजन! आणखी काय सांगू?] जिथे योगेश्वर श्रीकृष्ण आणि गाण्डीवधारी अर्जुन उपस्थित आहेत, तिथेच राज्यलक्ष्मी, विजय, विभूती आणि न्याय निश्चित उपस्थित असतात—हाच माझा अभिप्राय आहे.
७८। [हे राजा! आणि काय सांगू] जिथे योगेश्वर श्रीकृष्ण आणि जिथे गांडीवधारी अर्जुन उपस्थित आहेत, तिथेच राज्यलक्ष्मी, विजय, विभूती (ऐश्वर्य) आणि न्याय (नीती) निश्चित विद्यमान असतात—असे माझे मत आहे.

इति ‘मोक्षसंन्यासयोगो’ नाम अष्टादशोऽध्यायः।
इति अष्टादश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।
इति अष्टादश (अठराव्या) अध्यायाचा मराठी अनुवाद समाप्त.

श्रीमद्भगवद्गीता-माहात्म्यम्
गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः॥1॥
1। जो व्यक्ति संयत-चित्त होकर परम पवित्र इस गीताशास्त्र का पाठ करेंगे, वे भय एवं शोक आदि से मुक्त होकर श्रीविष्णु के पादपद्म को प्राप्त करेंगे।
१. जी व्यक्ती संयतचित्त होऊन या परमपवित्र गीताशास्त्राचे पठण करते, ती भय व शोक यांपासून मुक्त होऊन श्रीविष्णूंच्या पादपद्माला प्राप्त होते.

गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च॥2॥
2। गीताशास्त्र का अध्ययन करने वाले व्यक्ति तथा प्राणायामपरक व्यक्ति के पिछले जन्मों में किये कोई पाप नहीं रहते हैं।
२। जी व्यक्ती गीतेचे अध्ययन करते आणि प्राणायामाचा अभ्यास करते तिची मागील जन्मांमध्ये केलेली पापे शिल्लक राहत नाहीत.

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्॥3॥
3। जीवों के शारीरिक मल का निर्मोचन प्रतिदिन जल में स्नान से होता है। किन्तु गीता रूपी जल में एकबार मात्र स्नान करने से समग्र संसार-मल नष्ट हो जाता है।
3। जीवांच्या शरीराचा मळ दररोज पाण्याने स्नान केल्यामुळे निघून जातो. परंतु, गीतारूपी जलामध्ये केवळ एकवेळ स्नान केल्याने संपूर्ण संसार-मल (अज्ञान आणि पापांचा मळ) नष्ट होतो.

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिः सृता॥4॥
4। अन्य सब शास्त्रों का पाठ करने की क्या आवश्यकता है, गीता ही सर्वदा सुष्ठु रूप से कीर्तनीय है,—जो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीमुखपद्म से प्रकाशित हुई है।
4। इतर सर्व शास्त्रांचे पठण करण्याची काय आवश्यकता आहे? केवळ गीताच नेहमी चांगल्या प्रकारे (सुष्ठु रूपेण) कीर्तन करण्यायोग्य आहे; कारण ही गीता स्वयं-भगवान श्रीकृष्णांच्या मुखकमलातून प्रकट झाली आहे.

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम्।
गीतागंगोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥5॥
5। महाभारत-ग्रंथ का अमृत-सार तथा श्रीविष्णु के श्रीमुखपद्म से निःसृत गीता-गंगा का जल पान करने से पुनः जन्म नहीं होता है।
5। गीता ही महाभारत-ग्रंथाचे अमृत-सार असून श्रीविष्णूंच्या मुखकमलातून वाहणाऱ्या गंगा नदीप्रमाणे आहे. या गीतारूपी गंगेचे जल प्राशन केल्याने या दुःखमय भौतिक जगात पुनर्जन्म होत नाही.

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥6॥
6 समस्त उपनिषद्गण हैं—गाभी (गाय) समान, उनके दोहनकर्त्ता हैं— व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण, उक्त गाभी का बछड़ा है—अर्जुन, गाभी से निःसृत दुग्ध महान् गीतामृत एवं आस्वादक हैं—सुधी मानवगण।
६. सर्व उपनिषदे गायीप्रमाणे आहेत, त्यांचे दोहन करणारे व्रजेन्द्रनंदन श्रीकृष्ण आहेत, उपरोक्त गायीचे वासरू अर्जुन आहे, गायीतून निघालेले दूध हे महान गीतामृत आहे आणि त्याचे आस्वादक सुज्ञ मानवगण आहेत.

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-मेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥7॥
7। शास्त्र एक ही है—श्रीमद्भगवद्गीता, देवता एक ही हैं—श्रीकृष्ण, मंत्र एक ही है—उनके सभी श्रीनाम एवं कर्म भी एक ही है—उन देवता की सेवा।
७. शास्त्र एकच आहे—श्रीमद्भगवद्गीता; देव एकच आहेत— श्रीकृष्ण; मंत्र एकच आहे—त्यांची सर्व श्रीनामे; आणि कर्मही एकच आहे—त्या देवाची सेवा.
7. शास्त्र एकच आहे—श्रीमद्भगवद्गीता, देव एकच आहेत— श्रीकृष्ण, मंत्र एकच आहे—त्यांची सर्व श्रीनावे आणि कर्मही एकच आहे—त्या देवाची सेवा.
— समाप्त—

कलियुग का महामन्त्र
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

कलियुगाचा महामंत्र
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥